

# गीता तत्त्व दर्शन

प्रस्तावना : डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन



ग.वा.कवीश्वर

गीता तत्त्व दर्शन



ग. वा. कवीश्वर



मनोरमा प्रकाशन

## आमची धार्मिक प्रकाशने

- डॉ. प्र. न. जोशी  
दैनंदिन संतदर्शन / १५० रु.  
दैनंदिन श्रीज्ञानेश्वरी / १५० रु.  
ब्रह्मचैतन्य श्रीगोदलेकर  
महाराज / १०० रु.
- दिवाकर अनंत चैसास  
दैनंदिन एकनाथी भागवत / १५० रु.  
दैनंदिन तुकारामगाथा / १५० रु.  
सार्थ श्रीज्ञानेश्वरी / ३०० रु.  
श्रीमत्गुरुचरित्र / २०० रु.  
दैनंदिन भगवद्गीता / २०० रु.  
भार्यज्ञानेश्वरी / ७५ रु.  
सटीप श्रीज्ञानेश्वरी / १०० रु.  
सार्थ पसायदान / १५ रु.
- भार्गविराम अनंत चैसास  
कीर्तनकला / ६० रु.
- वामन देशपांडे  
सार्थ श्रीदासबोध / ३०० रु.  
नामस्मरण / १५० रु.  
उपासना / १५० रु.  
सटीप श्रीदासबोध / ७५ रु.  
श्रीदासबोध कथासार / ५० रु.  
गीतासार / २० रु.
- कृ. भा. परांजपे  
वटवृक्षाच्या छायेत / ५० रु.  
रुद्र : तणालमुक्तजीवनाचामंत्र  
• डॉ. इन्दुभूषण बडे  
अध्यात्म ते आरोग्य / ४० रु.  
• श्रीराम कृ. बीरकर  
हरिवंशपुराण / ७५ रु.
- पाथ्ये गुरुजी  
संत श्रीगजानन महाराज  
कृपाप्रसाद / ३० रु.
- सौ. विद्या फडके  
नित्यसंस्कार / २५ रु.
- स्वामी आनंद ऋषी  
पुनर्जन्म : कल्पना की वास्तव ? / १२५ रु.
- आबा परांजपे  
अमृतमय श्रीज्ञानेश्वरी / ७५ रु.
- प्रा. सी. ग. देसाई  
दैनंदिन दासबोध / १५० रु.  
शास्त्रोक्त देवपूजा अशी करावी / ३० रु.  
सार्थ आरतीसंग्रह / २० रु.  
गोष्ठीरूप अष्टविनायक दर्शन / ४० रु.  
श्रीमद्-भगवद्गीता / ३० रु.  
गायत्री मंत्रसाधना / २० रु.
- बाळशास्त्री हरदास  
महारथी कर्ण / १०० रु.
- कॅ. आनंद जयराम बोडस  
श्री गणपती अथर्वशीर्ष  
आणि विज्ञान / २० रु.
- डॉ. रमेशचंद्र कुळकर्णी  
मंत्रहरस्य : वैज्ञानिक  
दृष्टीकोनातून / २० रु.
- वीणा हरदास  
संतांचिये व्हायी / १२५ रु.
- मुकुन्द नावापूरकर  
सार्थ रामरक्षा / २० रु.  
अथर्वशीर्ष



मनोरमा  
प्रकाशन

१०२/सी, माधववाडी, खोली नं. ११,  
मुंबई मराठी ग्रंथसंग्रहालय मार्ग, दादर ( मध्य रेल्वे ) स्टेशनसमोर,  
दादर, मुंबई - ४०० ०१४  
दूरध्वनी : २४९४८२९९



सप्रेम भेंट  
छो. श्री ग. वा. कवीश्वर  
परिवार कसून त्यांच्या स्मरणार्थ  
सप्रेम भेंट  
मृत्यु दिनांक 24-07-2008

# गीता तत्त्व दर्शन

ग. वा. कवीश्वर

या पुस्तकाला  
राष्ट्रपती डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन  
यांची प्रस्तावना आहे.



DR. P. G. KAVESHWAR  
B-38 M. I. G. INDIRA COLONY  
BURHANPUR (M.P.)



जति पठित  
1. उचित. 2. 3. 4. 5. 6. 7. 8. 9. 10. 11. 12. 13. 14. 15. 16. 17. 18. 19. 20. 21. 22. 23. 24. 25. 26. 27. 28. 29. 30. 31. 32. 33. 34. 35. 36. 37. 38. 39. 40. 41. 42. 43. 44. 45. 46. 47. 48. 49. 50. 51. 52. 53. 54. 55. 56. 57. 58. 59. 60. 61. 62. 63. 64. 65. 66. 67. 68. 69. 70. 71. 72. 73. 74. 75. 76. 77. 78. 79. 80. 81. 82. 83. 84. 85. 86. 87. 88. 89. 90. 91. 92. 93. 94. 95. 96. 97. 98. 99. 100. 101. 102. 103. 104. 105. 106. 107. 108. 109. 110. 111. 112. 113. 114. 115. 116. 117. 118. 119. 120. 121. 122. 123. 124. 125. 126. 127. 128. 129. 130. 131. 132. 133. 134. 135. 136. 137. 138. 139. 140. 141. 142. 143. 144. 145. 146. 147. 148. 149. 150. 151. 152. 153. 154. 155. 156. 157. 158. 159. 160. 161. 162. 163. 164. 165. 166. 167. 168. 169. 170. 171. 172. 173. 174. 175. 176. 177. 178. 179. 180. 181. 182. 183. 184. 185. 186. 187. 188. 189. 190. 191. 192. 193. 194. 195. 196. 197. 198. 199. 200. 201. 202. 203. 204. 205. 206. 207. 208. 209. 210. 211. 212. 213. 214. 215. 216. 217. 218. 219. 220. 221. 222. 223. 224. 225. 226. 227. 228. 229. 230. 231. 232. 233. 234. 235. 236. 237. 238. 239. 240. 241. 242. 243. 244. 245. 246. 247. 248. 249. 250. 251. 252. 253. 254. 255. 256. 257. 258. 259. 260. 261. 262. 263. 264. 265. 266. 267. 268. 269. 270. 271. 272. 273. 274. 275. 276. 277. 278. 279. 280. 281. 282. 283. 284. 285. 286. 287. 288. 289. 290. 291. 292. 293. 294. 295. 296. 297. 298. 299. 300. 301. 302. 303. 304. 305. 306. 307. 308. 309. 310. 311. 312. 313. 314. 315. 316. 317. 318. 319. 320. 321. 322. 323. 324. 325. 326. 327. 328. 329. 330. 331. 332. 333. 334. 335. 336. 337. 338. 339. 340. 341. 342. 343. 344. 345. 346. 347. 348. 349. 350. 351. 352. 353. 354. 355. 356. 357. 358. 359. 360. 361. 362. 363. 364. 365. 366. 367. 368. 369. 370. 371. 372. 373. 374. 375. 376. 377. 378. 379. 380. 381. 382. 383. 384. 385. 386. 387. 388. 389. 390. 391. 392. 393. 394. 395. 396. 397. 398. 399. 400. 401. 402. 403. 404. 405. 406. 407. 408. 409. 410. 411. 412. 413. 414. 415. 416. 417. 418. 419. 420. 421. 422. 423. 424. 425. 426. 427. 428. 429. 430. 431. 432. 433. 434. 435. 436. 437. 438. 439. 440. 441. 442. 443. 444. 445. 446. 447. 448. 449. 450. 451. 452. 453. 454. 455. 456. 457. 458. 459. 460. 461. 462. 463. 464. 465. 466. 467. 468. 469. 470. 471. 472. 473. 474. 475. 476. 477. 478. 479. 480. 481. 482. 483. 484. 485. 486. 487. 488. 489. 490. 491. 492. 493. 494. 495. 496. 497. 498. 499. 500. 501. 502. 503. 504. 505. 506. 507. 508. 509. 510. 511. 512. 513. 514. 515. 516. 517. 518. 519. 520. 521. 522. 523. 524. 525. 526. 527. 528. 529. 530. 531. 532. 533. 534. 535. 536. 537. 538. 539. 540. 541. 542. 543. 544. 545. 546. 547. 548. 549. 550. 551. 552. 553. 554. 555. 556. 557. 558. 559. 560. 561. 562. 563. 564. 565. 566. 567. 568. 569. 570. 571. 572. 573. 574. 575. 576. 577. 578. 579. 580. 581. 582. 583. 584. 585. 586. 587. 588. 589. 590. 591. 592. 593. 594. 595. 596. 597. 598. 599. 600. 601. 602. 603. 604. 605. 606. 607. 608. 609. 610. 611. 612. 613. 614. 615. 616. 617. 618. 619. 620. 621. 622. 623. 624. 625. 626. 627. 628. 629. 630. 631. 632. 633. 634. 635. 636. 637. 638. 639. 640. 641. 642. 643. 644. 645. 646. 647. 648. 649. 650. 651. 652. 653. 654. 655. 656. 657. 658. 659. 660. 661. 662. 663. 664. 665. 666. 667. 668. 669. 670. 671. 672. 673. 674. 675. 676. 677. 678. 679. 680. 681. 682. 683. 684. 685. 686. 687. 688. 689. 690. 691. 692. 693. 694. 695. 696. 697. 698. 699. 700. 701. 702. 703. 704. 705. 706. 707. 708. 709. 710. 711. 712. 713. 714. 715. 716. 717. 718. 719. 720. 721. 722. 723. 724. 725. 726. 727. 728. 729. 730. 731. 732. 733. 734. 735. 736. 737. 738. 739. 740. 741. 742. 743. 744. 745. 746. 747. 748. 749. 750. 751. 752. 753. 754. 755. 756. 757. 758. 759. 760. 761. 762. 763. 764. 765. 766. 767. 768. 769. 770. 771. 772. 773. 774. 775. 776. 777. 778. 779. 780. 781. 782. 783. 784. 785. 786. 787. 788. 789. 790. 791. 792. 793. 794. 795. 796. 797. 798. 799. 800. 801. 802. 803. 804. 805. 806. 807. 808. 809. 810. 811. 812. 813. 814. 815. 816. 817. 818. 819. 820. 821. 822. 823. 824. 825. 826. 827. 828. 829. 830. 831. 832. 833. 834. 835. 836. 837. 838. 839. 840. 841. 842. 843. 844. 845. 846. 847. 848. 849. 850. 851. 852. 853. 854. 855. 856. 857. 858. 859. 860. 861. 862. 863. 864. 865. 866. 867. 868. 869. 870. 871. 872. 873. 874. 875. 876. 877. 878. 879. 880. 881. 882. 883. 884. 885. 886. 887. 888. 889. 890. 891. 892. 893. 894. 895. 896. 897. 898. 899. 900. 901. 902. 903. 904. 905. 906. 907. 908. 909. 910. 911. 912. 913. 914. 915. 916. 917. 918. 919. 920. 921. 922. 923. 924. 925. 926. 927. 928. 929. 930. 931. 932. 933. 934. 935. 936. 937. 938. 939. 940. 941. 942. 943. 944. 945. 946. 947. 948. 949. 950. 951. 952. 953. 954. 955. 956. 957. 958. 959. 960. 961. 962. 963. 964. 965. 966. 967. 968. 969. 970. 971. 972. 973. 974. 975. 976. 977. 978. 979. 980. 981. 982. 983. 984. 985. 986. 987. 988. 989. 990. 991. 992. 993. 994. 995. 996. 997. 998. 999. 1000.

प्रकाशक :

अनिल रघुनाथ फडके

मनोरमा प्रकाशन

१०२/सी, माधववाडी, पहिला मजला,

दादर मध्य रेल्वे स्टेशनसमोर,

दादर पूर्व, मुंबई - ४०० ०१४

दूरध्वनी : २४१४८२९९

© ग. वा. कवीश्वर

प्रथमावृत्ती : आषाढी एकादशी, १४ जुलै २००८

मुखपृष्ठ : अरविंद पाटील

अक्षरजुळणी :

निधि कॉम्प्युटर्स,

उषा, ५४५ / ३ अ, कुंभार प्लॉट,

निलेश बॅटरीच्यामार्गे, १०० फुटी रोड,

सांगली - ४१६ ४१६

दूरध्वनी : (०२३३) २५३१५३३

मुद्रक :

सौ. शामला अनंत चिंचणीकर

माधुरी मुद्रण

४५१/१/२, बहिरटपाटील सदन,

शिवाजीनगर गावठाण,

गणपती चौक, शिवाजीनगर,

पुणे - ४११ ००५

मूल्य : ७५ रुपये.

प्रार्थना

या कुन्देन्दुतुषारहारधवला या शुभ्रवस्त्रावृता ।  
या वीणावरदण्डमण्डितकरा या श्वेतपद्मासना ॥  
या ब्रह्माच्युतशंकरप्रभृतिभिर्देवैः सदा वन्दिता ।  
सा माँ पातु सरस्वती भगवती निःशेषजाड्यापहा ॥



या पुस्तकाच्या ' THE ETHICS OF THE GITA ' चा इंग्रजी  
आवृत्तीस सुप्रसिद्ध डॉ. राधाकृष्णन लिखित-  
FOREWORD

By Dr. S. Radhakrishnan

Professor G. W. Kaveeshwar of Holkar College, Indore, has written an important book on THE ETHICS OF THE GITA. He has wide learning and he has used it to demonstrate his thesis that Arjuna was not inclined to take to samnyasa but was tempted to abandon his duty. In the first chapter of the Gita Arjuna says, " I do not long for victory, Krsna, nor Kingdom for us, O Krsna, or enjoyment or even life. " Madhusudana Saraswati commenting on this verse indicates Arjuna's desire to renounce the world, samnyasa-sadhana-sucanam. It may not mean actually a desire to become a samnyasin but only a disregard for worldly possessions, aihikphala-Uiraga. There is no doubt that Gita teaches the performance of one's duty in the world. It also enjoins that this duty should be done in a spirit of detachment and dispassion. Karma-samnyasa is not so much the abandonment of action, but it is the performance of action in the spirit of samnyasa or renunciation. Samnyasa is a quality of mind. It is freedom from hatred and desire. It is the spirit of vairagya.

There are occasions when Krsna asks us to prepare for the work of the world by retiring from the world. He advises Uddhava in the 11th skandha of the Bhagavata " A spiritual aspirant should not only give up the company of women but even the company of householders but sit in solitude, free from danger and meditate on me :

*strinam tat-sanginam sangam tyaktv durata aimavan*

*Ksemam vivikta asinam cintayen mam atandritah.*

The spirit of the Gita is the performance of one's duty or karma in the spirit of samnyasa or detachment and

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः  
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीताऽमृतं महत् ॥ ( गीताध्यानम् )



renunciation. It we have the right frame of mind, we can live in the world and work for the welfare of the world.

...Even the attainment of wisdom is not inconsistent with work in the world :-

***viveki sarnvadā muktaḥ kurvato nāsti kartṛiā  
āleḥpavādam āsṛiya śrīkṛṣṇa-janakaḥ yathā.***

The purpose of the book is to show that we are not asked to give up work in the world. We are asked to participate in the work of the world with our minds free from egoism, desire, fear etc., and Professor Kaveeshwar has brought out this idea with learning and ability. In this connection he has also drawn a distinction between the niskama and karya aspects of the good act. I hope that this book will be read widely.

## प्रस्तावना ०००

‘ गीता तत्त्व दर्शन ’ या माझ्या पुस्तकाची ही द्वितीय आवृत्ती प्रकाशित होत आहे. यात काही प्रकरणांचा क्रम बदलला आहे; काही मजकूर गाळला असून, काही नवीन घातला आहे.

या पुस्तकाचे एक वैशिष्ट्य सांगतो. याचा पूर्वखंड अर्जुनावर आहे. गीता एखाद्या ऋषींच्या आश्रमात कोणी ज्ञानी व्यक्तीने केलेले एकमुखी प्रवचन नाही. गीता कुरुक्षेत्राच्या रणभूमीवर भीषण युद्धाच्या ऐन आरंभवेळी झालेला श्रीकृष्ण व अर्जुन यांचा संवाद आहे. अर्जुन एकाएकी त्या युद्धास नकार देऊ लागला असता, श्रीकृष्णांनी त्याचा तो वैचारिक मोह दूर करून त्याला त्या युद्धकर्तव्यासाठी प्रवृत्त केले. म्हणून श्रीकृष्णांचा गीतोपदेश यथार्थ समजून घेण्यासाठी, अर्जुनाच्या त्या मोहाचे, वैचारिक भूमिकेचे वास्तविक स्वरूप ध्यानात घेणे फार आवश्यक आहे.

अर्जुनाच्या त्या युद्ध नकारासंबंधात अनेक विपर्यस्त विधाने प्रचलित आहेत. कोणी त्या समयी अर्जुनाच्या मनावर संन्यासवादाचा प्रभाव पाहतात; कोणी त्या वीरशिरोमणी अर्जुनावर भेकडपणाचा आरोप करतात; कोणी दुर्योधनादि कौरवांविषयी प्रबल आपत्तस्नेहाची धारणा त्यात पाहतात. अर्जुन मानसाविषयी या व अव्यही निराधार कल्पनांचे पूर्व खंडात खंडन करून, अर्जुनाच्या त्या युद्ध नकाराच्या मुळाशी असलेल्या नैतिक व मानसिक मोहाचे स्पष्टीकरण केले आहे.

पुस्तकाच्या द्वितीय खंडात श्रीकृष्णाच्या गीतोपदेशाचे स्पष्टीकरण आहे. त्यात केवळ संबंधित लोकांचे क्रमवार भाषांतर नसून, निरनिराळ्या तात्त्विक विषयांच्या संदर्भात विवेचन आहे. त्यातही काही प्रचलित धारणांचे खंडन आहे. गीतेचे सर्वोच्च आध्यात्मिक ध्येय ‘ कर्म संन्यासवाद ’ नसून, व ‘ कर्मयोग ’ ही नसून, स्वतः श्रीकृष्णांच्या शब्दात ‘ बुद्धियोग ’ आहे. त्याचे स्वरूप स्पष्ट केले आहे.

या पुस्तकाचे आणखी एक वैशिष्ट्य. गीता महाभारताचा एक अंश आहे. आणि महाभारतात अनेकानेक गूढ श्लोक आहेत; असे काही गीतेतही आहेत. पुस्तकाच्या शेवटच्या प्रकरणात त्यांना उधृत करून त्यांचा कसा विपर्यास केला जात आहे हे दाखविले आहे, आणि त्यांचा वास्तविक सुसंगत मार्मिक आशय स्पष्ट केला आहे.



या पुस्तकाची हिंदी आवृत्ती 'गीता तत्त्व मीमांसा' प्रकाशित असून, इंग्रजी आवृत्तीही 'ETHICS OF THE GITA' प्रकाशित आहे. इंग्रजी आवृत्तीला सुप्रसिद्ध दार्शनिक व भारताचे त्यावेळेस उपराष्ट्रपती, (नंतर राष्ट्रपती) डॉ. राधाकृष्णन यांचे प्रशंसेसह प्राक्कथन (Foreword) आहे. पुस्तकाच्या प्रकाशनासाठी मी 'मनोरमा प्रकाशन' चा आभारी आहे.

जाता जाता एक वेगळा उल्लेख करतो, ज्याचा वस्तुतः या पुस्तकाच्या विवेचनाशी प्रत्यक्ष संबंध नसला तरी अप्रत्यक्ष मानता येईल. हा गीता संवाद महाभारत युद्धाच्या ज्या आरंभ तिथीस झाला त्या तिथीला 'गीता जयंती' तिथी संबोधित करून, ती मार्गशीर्ष शुक्ल एकादशीला सादर मानण्याची प्रथा हल्ली प्रचलित आहे. पण ती प्रथा निराधार असून, प्रत्यक्ष श्रीकृष्ण वचनानुसार, (आणि व्यास व संजय यांच्याही वर्णनानुसार) महाभारत युद्धाची आरंभतिथी असलेली ती 'गीता जयंती तिथी' वस्तुतः त्या एकादशीच्या पूर्वीची कार्तिक अमावस्या आहे हे मी 'महाभारताची गूढ रहस्ये' पुस्तकात विस्ताराने सिद्ध केले आहे.

शेवटी, हे पुस्तक लिहिण्यांत माझा प्रमुख दृष्टिकोण पुनः सांगतो. गीता केवळ श्रीकृष्णाचा भजनपूजनार्थ नित्य पारायणाची मी पोथी मानली नसून, भारतीय नीतिशास्त्र व अध्यात्मशास्त्र यांचे महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त स्पष्ट करणारी दार्शनिक रचना मानली आहे; आणि त्या दर्शनशास्त्रांच्या विभिन्न विषय विभागांनुसार गीतेचे विवेचन केले आहे. या दृष्टीने पुस्तकाचे वाचन विशेष इष्ट व उपयुक्त होईल.

- ग. वा. कवीश्वर

बी-३८, इंदिरा कॉलनी, बऱ्हाणपुर  
मध्यप्रदेश - ४७०३३९

## ०० अनुक्रमणिका ०००

### प्रथम खंड

#### अर्जुन मानस मंथन

##### प्रकरण - १

##### महापुरुषाचा महाविषाद

संजयाचे गीता कथन	१३
ऐनक्षणी अर्जुनाची मोहग्रस्त अवस्था	१६
गीतेत अर्जुन मानस चित्रण	१६

##### प्रकरण - २

##### अर्जुन आणि संन्यासवाद

अर्जुन संन्यासवादी झाल्याची धारणा	२२
एकाच गीतेत संन्यासाबद्दल स्तुती आणि निंदा शक्य आहे काय ?	२६
अर्जुनाच्या मनात वैराग्य उजाडले नव्हते	२७
अर्जुनाचा विरोध केवळ एका विशिष्ट कर्मांला होता	२८
अर्जुन खरोखर भिक्षापात्र व भगवे चाहत होता काय ?	२९
'अपि' शब्दाकडे भाष्यकारांचे दुर्लक्ष	३०

##### प्रकरण - ३

##### अर्जुनाविषयी आणखी काही भ्रम

अर्जुन मानसांत त्यावेळी कौर्वाविषयी ममता होती काय ?	३५
अर्जुनाच्या मनातील कुपेचे विशिष्ट स्वरूप	३८
अर्जुनावर भित्रेपणाचा आरोप	४१
जीवितांविषयी शोक	४५



प्रकरण - ४

अर्जुनाचा निष्काम मोह

अर्जुनाचा मोह - सकाम की कामाशिवाय ?	४७
काम व मोह यात भेद	४८
'काम'चे स्वरूप	४९
'काम', स्वरूप नसणाऱ्या इच्छा	५०
'मोह'चा उद्भव	५१
मोह 'काम' विनाही होऊ शकतो	५२
अर्जुनास झालेला मोह	५२
अर्जुनाच्या मोहात कामक्रोध पाहण्याचा चुकीचा आग्रह !	५५
गीतोपदेशांत निष्कामतेला स्थान	५९
त्या युद्धाचे मूल प्रयोजन	६१
अर्जुनाच्या 'पाप' भयाचे निराकरण	६४

उत्तर खंड

गीतोपदेश

प्रकरण - ५

आदर्श कर्माचरण

निष्काम आणि निरहंकार	६६
सकाम-निष्काम भेदाशिवाय कर्माचा कार्याकार्य भेद	६९
कार्याकार्य निर्णयाची साधने	७१
परिणाम विचार प्रमुख साधन	७२
गीता परिणाम विचारास प्रतिकूल नाही : कर्मफल त्यागाचा अर्थ	७२
स्वतः श्रीकृष्णांनी केलेला परिणाम विचार	७८
दानकर्मात परिणाम विचार	८०
प्रत्यक्ष कर्म वर्णनातच आलेला परिणाम विचार	८१

प्रकरण - ६

गीता आणि वेद

गीतेचा वेदांविषयी संयमित दृष्टिकोन	८३
'यज्ञ'चा व्यापक अर्थ	८९

प्रकरण - ७

गीतेचा 'बुद्धियोग'

आदर्श जीवनात कर्माचे स्थान	९२
गीतेत प्रत्यक्ष 'संन्यास योग'	
( सर्व कर्म संन्यास ) प्रतिपादित नाही	९५
गीतेत आमरण कर्माचरणाचाही आदेश नाही	१०१
कर्मयोग आणि कर्मसंन्यास	१०३
सर्वोच्च योगावस्था	१०५
सर्वात्मैक्यभाव	१०८
परम श्रीकृष्ण भक्ति	१०९
आत्मनियंत्रणासहित स्थितप्रज्ञता	११३
निर्द्वैगुण्यता	११९
गीतेचा योग - 'बुद्धियोग'	१२१

प्रकरण - ८

गीतोक्त परम ध्येय

ब्रह्मप्राप्ती	१३०
परम अक्षर पुरुष	१३२
परम पुरुष - अव्यक्त आणि व्यक्त	१३५
विभिन्न देवांत एकमेव ईश्वर	१३६
श्रद्धा - आवश्यकता व स्वरूप	१४५

प्रकरण - ९

वैयक्तिक आत्मस्वरूप

अव्यय आत्मा	१४७
वैयक्तिक आत्म्याच्या दोन अवस्था	१४९
क्षेत्र व क्षेत्रज्ञ	१५३

प्रकरण - १०

गीतेची सामाजिक विचारधारा

चातुर्वर्ण्य व्यवस्थेचा आशय	१५६
गीता श्लोक ४-१३ : विपर्यास व वास्तविक अर्थ	१६०



प्रकरण - ११

गीतेतील काही विशेष सूक्ष्म श्लोक

श्लोक २-२९, गीता आज्ञेयवादी आहे काय ?	१६७
श्लोक २-४५, निस्वैगुण्य पण तरीही 'नित्यसत्त्वस्थ'	१६९
श्लोक ७-१४ व १६-३, 'दैवी' शब्दाचे दोन अर्थ	१७२
श्लोक ८-२७, मरणोत्तर दोन पंथ - देवयान व पितृयान	१७४
श्लोक १-४ व ५, 'मत्स्थानि सर्वभूतानि', पण तरीही 'न च मत्स्थानि भूतानि'	१७८
श्लोक १-१९, श्रीकृष्ण 'सत्' आणि 'असत्' देखील	१७९
श्लोक १-३२ 'पापयोनयः' कोण ?	१८०
श्लोक १०-३६, 'द्यूतं छलयतामस्मि'	१८२
अर्जुनाने गीतोपदेशात श्रीकृष्णाची किती रूपे पाहिली ?	१८५
स्वतः संजयाने ते विश्वरूप प्रत्यक्ष पाहिले काय ?	१८९
श्लोक १२-१२, ध्यानापेक्षा निष्काम कर्म श्रेष्ठ आहे काय ?	१९१
श्लोक १३-४, ही 'ब्रह्मसूत्रे' कोणती ?	१९६
श्लोक १-१७, श्रीकृष्ण जगाचे पिता व माताही	१९८
'ब्रह्मा' शब्दाचे भिन्न अर्थ	१९९
श्लोक १८-१७ 'हत्वापि स इमान् लोकान्'	१९९
श्लोक १८-६६, 'सर्व धर्मान् परित्यज्य'	२०१
श्लोक १८-५९, 'प्रकृतिस्त्वां नियोजयति'	२०३
'उद्धरेदात्मनात्मानं' (६-५)	२०६
उल्लेखित पुस्तकांची सूची	२०९

प्रथम खंड

गीतातत्त्वदर्शन

अर्जुनमानसमंथन

प्रकरण - १

महापुरुषाचा महा विषाद

प्राचीन भारत वर्षात कुरुक्षेत्राच्या रणभूमीवर भगवान श्रीकृष्णाने आपला प्रिय सखा अर्जुनाला उपदेशिलेल्या, महाभारत महाकाव्याच्या रचयिता महाकवीने आपल्या प्रासादिक शब्दात वर्णित, श्रीमद्भगवद्-गीतेला भारतीय जनमानसात अतीव श्रद्धास्पद स्थान प्राप्त असून विदेशातही आदर प्राप्त आहे.

संजयाचे गीताकथन

महाभारतानुसार कुरुक्षेत्रावर कौरवपांडव महायुद्धाच्या पहिल्याच दिवशी लढाईच्या आरंभसमयी श्रीकृष्णार्जुनांचा हा गीता संवाद झाला. संजयाने तो धृतराष्ट्रास कथन केला. अंध धृतराष्ट्र हस्तिनापुरातच होता. महाभारताच्या काही अभ्यासकात असा भ्रम प्रसृत आहे की, युद्धकालात संजयदेखील धृतराष्ट्राजवळ हस्तिनापुरातच राहिला, आणि व्यासद्वारा प्रदत्त दिव्य दृष्टीने तेथून कुरुक्षेत्राच्या सर्व घटना प्रत्यक्ष पाहून त्या धृतराष्ट्रास निवेदन करित गेला. (१)

(१) महादेव देसाई "The Gita according to Gandhi" मध्ये लिहितात ( Page 10 ) "Sanjay was endowed with divine vision and without being on the battlefield narrated the entire happening to the blind King." "आणखी पहा, 'विश्वकोश' ( मराठी ) संपादक दाते व कर्वे; आणि वाराणसीला प्रकाशित "हिंदी शब्दसागर."



परंतु महाभारतानुसार संजय स्वतः कुरुक्षेत्रावर कौरवांकडून लढत होता. महाभारतात याचे अनेक उल्लेख असून मी ते “ महाभारताची गूढ रहस्ये ” पुस्तकात उद्धृत केले आहेत. संजयाला प्राप्त दिव्य दृष्टीचा प्रभाव इतकाच होता की, त्या विशाल रणक्षेत्रावर संजय कोठेही एका स्थळी असला तरी त्याला सर्व रणक्षेत्रावरील घटना ज्ञात होत असत, आणि योद्ध्यांच्या मनातील विचारही कळत असत.

जर संजय स्वतः कुरुक्षेत्रावर लढत होता, तर त्याने अंध धृतराष्ट्रास युद्ध वृत्तांत केव्हा निवेदन केला ? यासंबंधात महाभारताची अशी योजना आहे की, संजयाने तो वृत्तांत चार हप्त्यात ( प्रत्येक वेळेस हस्तिनापुरास जाऊन ) धृतराष्ट्रास कथन केला. प्रथम वृत्तांत भीष्मपतनानंतर ( भीष्मपर्व ), मग द्रोण वधानंतर ( द्रोणपर्व ), तिसरा वृत्तांत कर्णवध झाल्यावर ( कर्णपर्व ), आणि शेवटी शल्य व दुर्योधन यांचे मरण झाल्यावर ( शल्यपर्व ).

संजयाच्या प्रथम वृत्तांतात युद्धारंभापासून ( किंबहुना त्याच्याही काही दिवस पूर्वीपासून ) लढाईच्या दहाव्या दिवशी झालेल्या भीष्म पतनापावेतोची हकीकत आली आहे. त्यातच संजयाने गीता संवाद कथन केला. युद्धारंभाची ( अर्थात गीताजयंतीची ) तिथी ( सध्या प्रचलित ) मार्गशीर्ष शुक्ल एकादशी चूक असून ती वस्तुतः तत्पूर्वीची कार्तिक अमावस्या आहे, आणि प्रत्यक्ष लढाई लागोपाठ दररोज ( अठरा दिवस ) न होता एकेक दिवसाआड झाली ( व म्हणून एकूण युद्धकाळ १८+१७=३५ दिवस होता ), हे मी उपरोक्त पुस्तकात साधार प्रतिपादन केले आहे. भीष्मांचे प्रत्यक्ष लढाईच्या दहाव्या दिवशी रणभूमीवर अत्यंत जखमी अवस्थेत पतन झाले; त्याच्या दुसऱ्या दिवशी ( जो युद्धातील विश्राम दिवस होता ) संजयाने हस्तिनापुरास जाऊन धृतराष्ट्राला आपला प्रथम वृत्तांत निवेदन केला. तो पावेतो श्रीकृष्णार्जुनाचा गीता संवाद होऊन ( १०+९ ) एकोणीस दिवस झाले होते. म्हणून महाभारतकारांनी गीतेत संजयाचे तोंडी ‘ आह ’ ( १-२१ ), ‘ उवाच ’ ( १-२५, २-१, १० ), ‘ अब्रवीत् ’ ( १-२८ ), ‘ आविशत् ’ ( १-४७ ), ‘ बभूव ’ ( २-९ ), ‘ अभाषत ’ ( ११-१४ ) असे भूतकालीन प्रयोग घातले आहेत. आणि गीतेला प्रारंभ करणारा धृतराष्ट्राचा संजयाला प्रश्नही ‘ कुरुक्षेत्रात माझे पुत्र व पांडव काय करत आहेत ? ’ असा वर्तमानकाळात नसून भूतकाळात आहे - धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः ।

मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय ॥१-१॥

“ संजया, कुरुक्षेत्राच्या पावनभूमीवर एकत्रित युद्धार्थ उत्सुक माझे पुत्र व

पांडव काय करते झाले ? ” आणि संजयही आपले उत्तर भूतकालीन प्रयोगात देतो.

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा ।  
आचार्यमुपसङ्गम्य राजा वचनमब्रवीत् ॥२॥  
पश्येतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम् ।  
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥३॥

“ त्या समयी पांडवांची व्यूहबद्ध उभी असलेली सेना पाहून राजा दुर्योधन आचार्य द्रोणांजवळ जाऊन म्हणाला - २. ‘ आचार्य, आपल्या बुद्धिमान शिष्य धृष्टद्युम्नाने व्यूहबद्ध उभी केलेली ही पांडवांची विशाल सेना पाहा ’ - ३. ”

कौरवांनी पांडवांचे इन्द्रप्रस्थ राज्य कपटपूर्ण द्यूतात हरण केल्यावर, पांडवांनी द्यूतात ठरलेल्या अटीप्रमाणे वनवास व अज्ञातवासाचा निर्धारित समय पूर्ण केल्यावरही, त्यांचे राज्य परत करण्यास दुर्योधनाने पांडवांनी अज्ञातवासाचा समय पूर्ण केला नाही असा बहाणा करून नकार केला. म्हणून पांडवांना युद्धाशिवाय मार्ग उरला नाही. उभय पक्षांचे योद्धे कुरुक्षेत्रावर लढाईच्या प्रथम दिवशी सूर्योदय समयी एकमेकांसमोर लढाईच्या पूर्ण तयारीसह उभे झाले. दुर्योधनाने आपल्या सैन्यास हा आदेश दिला - अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः ।

भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ॥१॥

“ आपापल्या सर्व सेनाविभागात उभे राहून तुम्ही सर्व ( सर्वोच्च सेनापति ) भीष्मांचे पूर्ण रक्षण करीत राहा. ” दुर्योधनाने असे म्हणताच -

तस्य संजनयन्हर्ष कुरुवृद्धः पितामहः ।

सिंहनादं विनद्यौचैः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान् ॥१२॥

ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः ।

सहस्रैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥१३॥

“ त्याला ( दुर्योधनाला ) हर्षित करीत कुरुवंशाच्या महाप्रतापी वृद्ध पितामहाने ( भीष्माने ) सिंहनाद करीत आपला शंख वाजवला - १२. तेव्हा ( कौरव सैन्यातील ) अनेक शंख, पणवानक, गोमुख आदि ( रणवाद्ये ) एकदम वाजू लागले, व त्यातून प्रचंड ध्वनि निघाला - १३. ” ते आह्वान स्वीकारून पांडव पक्षानेही तसेच उत्तर दिले -

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ ।

माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः ॥१-१४॥

पाञ्चजन्यं हर्षीकेशो देवदत्तं धनंजयः ।



पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्खं भीमकर्मा वृकोदरः ॥१५॥

अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।

नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥१६॥

काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः ।

धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः ॥१७॥

द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते ।

सौभद्रश्च महाबाहुः शङ्खान्दध्मुः पृथक् पृथक् ॥१८॥

“ ( त्याच्या प्रतिक्रियेत ) श्वेत अश्वांच्या भव्य रथावर आरूढ श्रीकृष्णार्जुनांनीही आपले दिव्य शंख वाजवले - १४. श्रीकृष्णांनी पांचजन्य, अर्जुनाने देवदत्त, भीषण पराक्रमी भीमाने पौण्ड्र महाशंख वाजवला - १५. कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिराने अनन्त विजय, आणि नकुल सहदेवांनी सुबोध व मणिपुष्पक ( शंख वाजवले ) - १६. हे राजा ( धृतराष्ट्रा ), या बरोबरच परमवीर काशिराज, महारथी शिखण्डी, धृष्टद्युम्न, विराट, कधीही पराजित न झालेला सात्यकी, द्रुपद, द्रौपदीचे ( पाच ) पुत्र, आणि महावीर अभिमन्यु यांनीही सर्व दिशांना आपापले शंख वाजवले ” - १७, १८.

ऐनक्षणी अर्जुनाची मोहग्रस्त अवस्था

अशा त्या युद्धोत्साहाच्या वातावरणात प्रत्यक्ष लढाई प्रारंभ होणार इतक्यात अर्जुनाने शत्रुपक्षीय योद्ध्यांवर एकदा साकल्याने दृष्टिक्षेप करण्याच्या इच्छेने आपला रथ उभय सैन्यांच्या मध्यभागी उभा करण्यास श्रीकृष्णास सांगितले. ( २०, २१, २२, २३ ). कृष्णाने तसे करताच, अर्जुनाने आसमंतात दृष्टि टाकली मात्र, परस्परांच्या प्राणघातार्थ उद्युक्त झालेला तो आपल्याच स्वजनांच्या समुदाय पाहून एकाएकी त्या महापुरुषाच्या मनात पराकोटीचा विषाद उत्पन्न झाला ! अर्जुन युद्धाला नवखा होता असे नाही; अनेक दुर्दमनीय शत्रूंना धूळ चारणारा तो कसलेला परंतपवीर होता. परंतु राज्यादि ऐहिक भोगार्थ आपल्याच कुल बांधवांशी युद्ध महत्त्वाप होय अशी त्याच्या मनाची धारणा होऊन, परमावधीच्या विषादाने त्याने त्याचे सारथ्य करणाऱ्या श्रीकृष्णाजवळ त्या युद्धास नकार व्यक्त केला !

गीतेतील अर्जुनमानसचित्रण

अर्जुनाच्या त्या विषादयुक्त अवस्थेचे गीतेत मार्मिक विस्तृत वर्णन दिले आहे -

१६ \* गीता तत्त्व दर्शन

तत्रापश्यत्स्थितान्यार्थः पितृनथ पितामहान् ।  
आचार्यान्मातुलान्भ्रातृपुत्रान्यौगिन्सखींस्तथा ॥१-२६॥  
श्वशुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि ।

तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बन्धून्वस्थितान् ॥२७॥

कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ।

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वंमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ॥२८॥

सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ।

वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥२९॥

गाण्डीवं संसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते ।

न च शक्रोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ॥३०॥

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव ।

न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ॥३१॥

“ अर्जुनाने तेथे उभय सैन्यात उपस्थित पित्यासमान ज्येष्ठ, पितामह, गुरू, मामे, बंधू, पुत्र, पौत्र, मित्र, सासरे, सखे प्राहिले; त्या सर्व आत्मस्वजनांना पाहून तो अर्जुन - २६, २७, परम कृपेने व्याकुळ होऊन विषाद करत असे बोलला. कृष्णा, युद्धार्थ येथे जमलेल्या या स्वजनांना पाहून - २८ माझे अवयव चालेनासे होत आहेत, तोंडास कोरड पडत आहे, शरीराला कंप सुटून रोमांच उभे राहत आहेत - २९, अंगाचा दाह होत आहे, हातातून गांडीव धनुष्य गळून पडत आहे, उभे राहवत नाही, व माझे मन भ्रमिष्टासमान होत आहे - ३०. केशवा, मला एकंदरीत ( या युद्धकृत्याची ) लक्षणे ( परिणाम ) ठीक दिसत नाहीत, युद्धात स्वजनांचे प्राण घेऊन कल्याण होईलसे मला वाटत नाही ” - ३१.

न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च ।

किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा ॥३२॥

येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च ।

त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ॥३३॥

आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः ।

मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः सम्बन्धिनस्तथा ॥३४॥

एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन ।

अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ॥३५॥

“ कृष्णा, मला ( या युद्धात स्वकुलवधाचे महापाप करून प्राप्त होणाऱ्या ) विजयाची, राज्याची व सुखाचीही इच्छा नाही; कृष्णा, ( अशा प्रकारे प्राप्त )

गीता तत्त्व दर्शन \* १७



राज्याने, भोगांनी, व जिवंत राहण्यानेही आमचे काय भले होणार ? - ३२. आम्ही इच्छिलेले राज्य, भोग व सुखे यांचा उपयोग ज्यांच्या संरक्षणार्थ व्हावा, तेच ( हे स्वजन ) आपल्या प्राणांचा व संपत्तीचा त्याग करण्यास तयार होऊन या युद्धप्रसंगी ( आमच्या विरुद्ध ) उभे आहेत - ३३. आचार्यगण व त्याचप्रमाणे आज्ञे, माझे, माझे, शासक, व अन्य नातेवाईक - ३४, यांना, हे कृष्णा, पृथ्वीसाठीच तर काय पण त्रैलोक्याच्या आधिपत्यास्तवही मी, माझा प्राण घेतला जाणार असला तरी, मारू इच्छित नाही ” - ३५.

निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन ।  
पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः ॥३६॥  
तस्मान्नाहर्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान् ।  
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ॥३७॥  
यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः ।

कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ॥३८॥  
कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम् ।  
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्विज्जनार्दन ॥३९॥

“ जनार्दना, या धार्तराष्ट्रांना ठार मारून आमचे काय कल्याण होणार ? आततायी अशा ( देखील ) यांना मारून आमच्या पदरी पापच पडणार ! - ३६. म्हणून या कौरवांना आणि अन्य ( शत्रुपक्षीय ) स्वबान्धवांना आम्ही मारणे योग्य होणार नाही. कारण, स्वजनांना मारून, माधवा, आम्ही सुखी कसे होऊ ? - ३७. जरी लोभाने भ्रष्टबुद्धि झालेल्या यांना ( या युद्धांत घडणारा ) कुलक्षयाचा दोष व मित्रद्रोहाचे पातक दिसत नाही - ३८, तरी हे जनार्दना, तो कुलक्षयाचा दोष आम्हाला स्पष्टपणे दिसत असता या पापकर्मापासून निवृत्त होण्याचा विचार आम्ही न करणे कसे उचित होईल ? - ३९. ”

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः ।  
धर्मो नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ॥४०॥  
अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ।  
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः ॥४१॥  
संक्रो नरकायैव कुलधनानां कुलस्य च ।  
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥४२॥  
दोषैरैतैः कुलधनानां वर्णसंस्कारकैः ।  
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ॥४३॥

१८ \* गीता तत्त्व दर्शन

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन ।  
नरके नियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥४४॥

“ कुलाचा क्षय झाला म्हणजे पूर्वापार चालत आलेले कुलधर्म नष्ट होतात आणि तसे झाले म्हणजे ते सर्व कुल अधर्माच्या अधीन होते - ४०. अधर्म माजला म्हणजे, कृष्णा, कुलातल्या स्त्रिया कुमार्गागामी होतात, आणि तसे झाले म्हणजे, हे वार्ष्णेया, वर्णसंकर घडून येतो - ४१. संकराचा परिणाम म्हणून ते कुलघातक आणि ते कुल नरकाप्रत जातात; आणि अशांचे पितर पिंडदानतर्पणादि क्रियांच्या अभावी पतन पावतात - ४२. कुलघातक्यांच्या ह्या अशा वर्णसंस्कारक दोषांमुळे शाश्वत असे कुलधर्म व जातिधर्म उध्वस्त होतात - ४३. हे जनार्दना, ज्यांचे कुलधर्म उध्वस्त झाले आहेत अशा व्यक्तींना निश्चित नरकवास घडतो असे आम्ही ऐकत आलो आहे. - ४४ ”

अहो वत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् ।  
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥४५॥  
यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।  
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥४६॥  
एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत् ।  
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ॥४७॥

“ अरे ! राज्यसुखाच्या लोभाने आम्ही स्वजनांना मारण्यास तयार झालो ! खरोखर हे केवढे घोर पातक करण्यास आम्ही उद्युक्त झालो आहो ! - ४५. शस्त्रहीन व प्रतिकाररहित अशा मला या रणभूमीवर शस्त्रधारी धार्तराष्ट्रांनी ठार मारले तरी ( मी यांना मारण्यापेक्षा ) मला ते अधिक कल्याणकारक होईल ! - ४६. ”

याप्रमाणे बोलून शोकाकुलचित्त असा तो अर्जुन धनुष्यबाण टाकून रणांगणावर रथांत आपल्या जागी स्वस्थ बसला ! - ४७.

तं तथा कृपयाविष्टशृणूणांकुलेक्षणम् ।  
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥४८॥  
श्रीकृष्ण म्हणाले -

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।  
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥४९॥  
कलैर्बल्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ।  
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्योत्तिष्ठ परंतप ॥५०॥

याप्रमाणे कृपेने व्याकुळ झालेल्या, अश्रूंनी डोळे पूर्णपणे डबडबलेल्या, व विषाद करणाऱ्या त्या अर्जुनाला श्रीकृष्ण असे बोलले - १. “ अर्जुना, हे

गीता तत्त्व दर्शन \* १९



अनार्य, स्वर्गाविरुद्ध व अपकीर्तिकारक काळेबरे या विकट प्रसंगी तुड्यात कोठून शिरले ? - २. अर्जुना, नामर्दतेसारखी दिसणारी ही अवस्था सोड, ही तुला शोभत नाही. परंतप ( अर्जुना ), हृदयाचे हे क्षुद्र दुबळेपण सोडून ( युद्धार्थ ) उभा राहा - ३. ” पण अर्जुन म्हणाला,

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन ।

इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हाविरसूदन ॥४॥

गुरूनहत्वा हि महानुभावान्  
श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके ।

हत्वार्थकामान्स्तु गुरूनिहैव  
भुञ्जीय भोगान्त्विधिरप्रदिधान् ॥५॥

न चैतद्विद्वाः कतरन्नो गरीयो

यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः ।

यानेव हत्वा न जिजीविषाम-

स्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥६॥

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः

पृच्छामि त्वां धर्मसंबुद्धेताः ।

यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे

शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥७॥

“ कृष्णा, पूजनीय अशा भीष्मद्रोणांवर युद्धात मी उलटून बाण कसे सोडू ? - ४, परम आदरणीय अशा या गुरुजनांना मारण्यापेक्षा या पृथ्वीतलावर भीक मागून पोट भरणे देखील श्रेयस्कर होईल ! ( कौरवांच्या ) द्रव्याच्या लोभाने फसलेल्या या गुरुजनांना मारून याच लोकी त्यांच्या रक्ताने माखलेले भोग भोगावे लागतील. - ५, आम्ही जिंकावे किंवा ( यांच्या-कडून ) जिंकले जावे, यात आम्हाला काय अधिक श्रेयस्कर आहे, हे कळेनासे झाले आहे. ज्यांना मारल्यानंतर आम्हाला जिवंत राहाणेही नकोसे व्हावे तेच हे धातराष्ट्र ( युद्धार्थ ) समोर उभे आहेत ! - ६.

( या समयी ) माझी बुद्धी अज्ञानग्रस्त झाली असून, धर्म-अधर्माविषयी मला मोह झाला आहे, त्याचा खुलासा मी तुला विचारत आहे, ( स्वकुलबांधवांविरुद्ध हे युद्ध करणे व न करणे यात ) जे वस्तुतः श्रेयस्कर आहे ते मला निश्चित सांग, मला तुझा शिष्य जाण, व तुझ्याजवळ बसलेल्या मला उपदेश कर ” - ७.

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्

यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम् ।

अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं  
राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ॥८॥  
संजय उवाच

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परंतपः ।  
न चोत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह ॥९॥  
तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत ।  
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ॥१०॥

श्रीभगवानुवाच

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रजावादांश्च भाषसे ।  
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥११॥

“ कारण, पृथ्वीचे निष्कंटक समृद्ध राज्य किंवा देवलोकांचे आधिपत्यहि प्राप्त झाले तरी माझ्या इंद्रियांना शुष्क करित असलेला हा माझा शोक ( विषाद ) जेणेकरून दूर होईल असे मला काहीही दिसत नाही ! - ८. ”

तो महावीर अर्जुन याप्रमाणे श्रीकृष्णाला बोलून, व ‘ मी लढणार नाही ’ असे म्हणून स्वस्थ बसला ! - ९. राजा धृतराष्ट्र, ( ऐन युद्धारंभी ) दोन्ही सैन्यांच्या मधोमध अशा प्रकारे विषाद करणाऱ्या त्या अर्जुनाला श्रीकृष्ण हसल्यासारखे करून म्हणाले - १०,

ज्याविषयी शोक करू नये त्याविषयी तू शोक करित आहेस, आणि शहाणपणाच्या गोष्टी सांगतोस ! खरे विद्वान प्राण जाणे व राहणे या उभय घटनांबद्दल शोक करित नाहीत - ११. ”

त्या महावीर योद्ध्याच्या हृदयात युद्धरूपी कर्तव्याच्या पालनाच्या ऐनक्षणी उत्पन्न या घोर विषादाचे वास्तविक स्वरूप स्पष्ट केल्यावरच त्याच्या त्या मोहाच्या निराकरणार्थ श्रीकृष्णांनी केलेल्या उपदेशाचा यथार्थ आशय ग्रहण करता येईल.

\*\*\*



सांगण्यासाठीच गीताशास्त्राची प्रवृत्ति झालेली असून, चित्तशुद्धीनंतर मोक्षाला कर्माची जरूर नाही, अशा युक्तिवादाने गीतेत संन्यासमार्गच प्रतिपाद्य आहे, असे अनुमान करिता येत नाही. ” ( पृ. ३०७ ). “ जगात आयुष्यक्रमणाचे मार्ग दोन; एक सांख्य आणि दुसरा योग. पैकी ज्या सांख्य किंवा संन्यास मार्गाचा आचार लक्षात आणून अर्जुन लढाई सोडून भिक्षा मागण्यास तयार झाला होता... ” ( पृ. ६२५ )

परंतु, अर्जुनाचा संन्यास ग्रहणाकडे कल झाला होता अशी धारणा कर्ममार्गवादीच नव्हे तर कर्मसंन्यासवादीही व्यक्त करतात. शंकराचार्य आपल्या भाष्याच्या आरंभी अर्जुनाविषयी लिहितात, “ शोकमोहाभ्यां ह्यभिभूत विवेक विज्ञानः स्वत एव क्षात्रधर्मे प्रवृत्तोऽपि तस्मात् युद्धादुपराम । परधर्मं च भिक्षाजीवनादिकं कर्तुं प्रवृत्ते ” ( अर्जुन स्वतःच क्षत्रिय धर्माला अनुसरून युद्धाला प्रवृत्त झाला होता, पण तरीही शोकमोहामुळे त्याचे विवेकज्ञान पराभूत होऊन तो त्या युद्धापासून निवृत्त होऊ लागला, आणि भिक्षाजीवनादि परधर्म स्वीकारण्यास प्रवृत्त झाला ). यात शंकराचार्य ‘ भिक्षाजीवनादिकं परधर्म ’ म्हणतात; त्यांचे भाष्य स्पष्ट करणारे आनंदगिरि त्यातील ‘ आदि ’ शब्दात संन्यास समाविष्ट करून लिहितात, “ आदि शब्दात् अशेषकर्मन्यास लक्षण परिव्राज्यम् आत्माभिज्ञानं इत्यादि गृह्येत् ” ( आदि शब्दाने संपूर्ण कर्मत्याग स्वरूप संन्यास समजावा ) याशिवाय स्वतः शंकराचार्यांनी गीतेच्या एकूण तिसऱ्या अध्यायाचा ( व पुनः विशेषतः त्याच्या श्लोक १७ ची ) भूमिका स्पष्ट करताना बृहदारण्यक उपनिषद उद्धृत करून, ज्ञानमार्गीयांच्या भिक्षाचर्यजीवनाचा कर्मसंन्यासाशी संबंध दिग्दर्शित केला आहे.

अशाचप्रकारे एकंदरीत शंकराचार्यांचा संन्यास प्रधान दृष्टिकोन स्वीकारणारे मधुसूदन सरस्वती ‘ गूढार्थदीपिका ’ मध्ये श्लोक २-६ च्या विवरणात लिहितात, “ इति प्रथमाध्यायस्यार्थः संन्याससाधनसूचनम् अस्मिंस्त्वध्याये श्रेयो भोक्तुं भैक्षमपि ’ इत्यत्र भिक्षाचर्योपलक्षितः संन्यासः प्रतिपादितः ” ( “ अशा प्रकारे प्रथम अध्यायात संन्यास ग्रहणाची पूर्वतयारी सूचित असून या अध्यायात ‘ श्रेयो भोक्तुं भैक्षमपि ’ शब्दाद्वारे भिक्षाचर्याने दिग्दर्शित प्रत्यक्ष संन्यास प्रतिपादित आहे ” ).

अर्जुनाविषयी ही धारणा संन्यासवादी जे प्रमुख गीतोपदेशसार दाखवतात त्याच्याशी सुसंगत देखील प्रतीत होत नाही. अर्जुनाचा जर प्रथमपासूनच संन्यासमार्गाकडे कल होता तर पुनः सगळी गीता सांगून संन्यासमार्गच प्रतिपादन करण्याचे कारण काय होते ? संन्यासवादी

गीता तत्त्व दर्शन \* २३

## प्रकरण - २ अर्जुन आणि संन्यासवाद

### अर्जुन संन्यासवादी झाल्याची धारणा

गीतोपदेश स्पष्टीकरणाचे दोन प्रमुख विरोधी पंथ प्रचलित आहेत: कर्मसंन्यासवादी व कर्मयोगवादी. प्रथम पक्षानुसार गीतेचे मुख्य प्रतिपादन हे आहे की, ज्ञानप्राप्तीपूर्व साधकाने कर्म करणे आवश्यक असले तरी, सिद्ध व्यक्तीने ज्ञानोत्तर अवस्थेत कर्माचा त्याग करावा. दुसऱ्या पक्षाच्या मताने गीतेच्या प्रमुख प्रतिपादानानुसार साधक मुमुक्षूनेच नव्हे तर सिद्ध मुक्तानेही आमरणान्त अनासक्तिपूर्वक ( कार्य ) कर्म करीत रहावे. प्रथम पक्षाचे अध्वर्यु आद्य श्री शंकराचार्य असून, द्वितीय पक्षाचे नेतृत्व वर्तमानसमयी बाळ गंगाधर टिळक यांचेकडे मानले जाते ( पुस्तक “ श्रीमद्भगवत गीता रहस्य अथवा कर्मयोग शास्त्र ” ).

कर्ममार्गवादी भाष्यकारांच्या अनुसार अर्जुन स्वकुलघातक युद्धाच्या दृष्ट्याने तीव्र घृणा उत्पन्न होऊन कर्मसंन्यासाकडे वळू लागला असता, श्रीकृष्णाने त्याला गीतोपदेशद्वारा कर्ममार्गाकडे प्रवृत्त केले. या दृष्टिकोनाने टिळक लिहितात, “ भगवत गीतेच्या उपक्रमोपसंहाराकडे नजर दिल्यानंतर असे आढळून येईल की, भारतीय युद्धास प्रत्यक्ष आरंभ होण्यापूर्वी कुरुक्षेत्रावर दोहो बाजूकडील सैन्य लढाईस सज्ज होऊन आता एकमेकांवर शस्त्रसंपात करणार, इतक्यात एकाएकी ब्रह्मज्ञानाच्या गोष्टी सांगून ‘ विमनस्क ’ व संन्यास घेण्यास तयार झालेल्या अर्जुनास आपल्या क्षात्रकर्मास प्रवृत्त करण्यासाठी भगवांतांनी गीता उपदेशिली आहे ” ( पृ. २४ ) “ ज्या लढाईत आपल्या हातून पितृवध व गुरुवध होऊन सर्व राजांचा व बांधवांची क्षय होणार ती घोर लढाई करणे योग्य की अयोग्य, अशी शंका मनात येऊन अर्जुन युद्ध सोडून संन्यास घेण्यास जेव्हा तयार झाला... ” ( पृ. ५२ ); “ संन्यास घेण्यास तयार झालेल्या अर्जुनास ही कारणे

२२ \* गीता तत्त्व दर्शन



भाष्यकार या आक्षेपाला असे उत्तर देतात की, अर्जुन जरी आरंभीच संन्यास मार्गाकडे वळला होता, तरी तो पूर्ण ज्ञानसंपन्न नसल्याने श्रीकृष्णांनी त्याला संन्यास मार्गासाठी अनधिकारी मानून कर्माचरणाकडे प्रवृत्त केले, पण ज्ञानीकरिता गीतेत शेवटी संन्यासच प्रतिपादन केला आहे.

काही अन्यही अर्जुनाच्या त्या युद्ध नकाराचा उद्भव त्याच्या संन्यास निष्ठेत पाहतात. योगी अरविंद जीवनात उद्भवणारे नानाविध प्रश्न भिन्नभिन्न व्यक्ती सत्त्व, रज, तम या तीन गुणांपैकी जो विशिष्ट गुण त्यांचे ठायी प्रबलत्वाने वास करितो त्याच्या अनुरोधाने सोडविण्याचा प्रयत्न करीत असतात, असे सांगून आपल्या भाष्यात म्हणतात -

“... The natural movement of the former attitude is towards the renunciation of the world, Sannyasa; of the latter towards superiority to the claims of the lower nature and its whirl of actions and reactions and its principle is equality and the inner renunciation of passion and desire. The former is the first impulse of Arjuna recoiling from the calamitous culmination of all his heroic activity in the great cataclysm of battle and massacre, Kurukshetra; losing his whole past principle of action, inaction and the rejection of life and its claims seem to him the only issue. But it is to an inner superiority and not to the physical renunciation of life and action that he is called by the voice of the divine Teacher.” (Essays on Gita, First series, P.P. 78, 79)

“कुरुक्षेत्राच्या घोर नृशंसक रणभूमीवर आपल्या सर्व शूरत्वाच्या संभवनीय भयानक परिणामाच्या कल्पनेमुळे घृणा उत्पन्न होऊन अर्जुनाचे मन प्रथम एकदम उपरोक्त पहिल्या प्रवृत्तीकडे (संन्यासमार्गाकडे) वळले; कर्माचरणाचे स्वतःचे पूर्वीचे सारे तत्त्व विसरून, निष्क्रियता आणि जीवितपराङ्मुखता व त्यापासून निघणारे उपसिद्धांत हाच त्याला एकमेव विचार दिसू लागला. परंतु त्याच्या ईश्वरी उपदेशकाने त्याला केवळ कर्म व जीवित यांच्या भौतिक त्यागापेक्षा आंतरिक श्रेष्ठत्वाकडे चलण्यासाठी आवाहन केले.” डॉ. राधाकृष्णन देखील म्हणतात की, अर्जुनाचा त्या युद्धाला नकार सांख्यप्रणीत ज्ञानस्वरूप कर्मसंन्यास मार्गावर आधारित होता. (The Bhagavadgita, PP 66-67; P 69, Line 1-7)

अर्जुन खरोखर संन्यासवृत्तीसाठी प्रवृत्त झाला होता काय ?

‘संन्यास’ शब्दाचे तीन रुढार्थ आहेत. एक अर्थ आपला प्रापंचिक निवास त्यातून, भगवी वस्त्रे परिधान करून, हाती भिक्षापात्र (दंड कमंडलू) धारण करणे हा आहे. ‘संन्यास’ चा दुसरा अर्थ सर्व ऐहिक सुखोपभोगा-विषयी अंतःकरणपूर्वक वैराग्य हा आहे; या अर्थाने संन्यास जसा सांख्यदर्शनमार्गी कर्मसंन्यासवाद्यात आढळेल तसा कर्ममार्गी योग्यांतही आढळू शकेल, शुकासारख्या मुनिश्रेष्ठात असेल तसा जनकासारख्या राजर्षींतीही असेल. गीतेचा ‘स्थितप्रज्ञ’ या अर्थाने संन्यासीच असतो.

ज्ञेयः स नित्य संन्यासी यो न द्वेष्टि न कांक्षति

निर्द्वंद्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात् प्रमुच्यते ॥५-३॥

“जो (कोणाचाही) द्वेष व (कशाचीही) इच्छा करीत नाही तो नित्यसंन्यासी समजावा. कारण, अर्जुना, जो (या इच्छाद्वेषाच्या) द्वंद्वपासून सुटला तो स्वाभाविकच संसाराच्या बंधनांपासून पूर्ण मुक्त होतो.” (१)

‘संन्यास’ शब्दाचा तिसरा अर्थ ज्ञानोपासनायुक्त सर्वकर्म-संन्यासात्मक सांख्य निष्ठा. ज्ञानप्राप्तीपूर्व साधकाने कर्मे करणे आवश्यक असले, तरी ज्ञानोत्तर सिद्धावस्थेत कर्म पूर्ण वर्ज्य मानावे हे या पक्षाचे प्रतिपादन आहे. या पंथास सांख्यमार्ग किंवा ज्ञानमार्ग अथवा कर्मसंन्यास निष्ठा असे म्हटले जाते.

याप्रमाणे संन्यास शब्दाचे चतुर्थांश्रम, वैराग्यवृत्ती व सर्वकर्म-त्यागनिष्ठा असे तीन अर्थ होतात. यापैकी कोणत्याही आशयाने अर्जुनाच्या मनात त्यासमयी संन्यासवाद प्रभावी होता काय ?

(१) यातील निर्द्वंद्व पदाचा कित्येक भाष्यकार (उ. टिळक)

सुखदुःख द्वंद्वाकडे संबंध लावतात. हे संदिग्ध आहे. शब्दशः सुखदुःखांच्या अनुभवांच्या द्वंद्वपासून जीव पूर्ण मुक्त होऊ शकत नाही; हे नैसर्गिक देहधर्माचे प्रकार आहेत. मात्र सुखाबद्दल आसक्ति व दुःखाबद्दल उद्विग्नता या मानसिक द्वंद्वपासून तो मुक्त होऊ शकतो. इतर काही भाष्यकार ‘शीतोष्णद्वंद्वराहित्य’ असाही अर्थ करतात; हे अधिकच असमर्थनीय आहे. शीत व उष्ण यांच्या अनुभवांतील भिन्नत्व हा केवळ प्रकृतीच्या गुणांचा परिणाम होय. अर्थात ‘नित्यसंन्यासी’ योगी व्यक्तीला हे अनुभव भिन्नत्वाने आले तरी एकाबद्दल आवड व दुसऱ्याबद्दल अनावड असा पुढचा भेद त्याचे मन करणार नाही हे खरे.



एकाच गीतेत संन्यासाबाबदल स्तुती आणि निंदा शक्य आहे काय ?

रणांगणावर युद्धारंभाच्या ऐन मोक्यावर शस्त्रत्यागा करण्यास उद्युक्त होतांना अर्जुनाच्या दृष्टीपुढे सांख्यप्रणीत कर्मसंन्यासनिष्ठा होती या मताचा चिकित्सक विचार करू गेले असता, प्रथमदर्शनीच एक प्रश्न आपल्या समोर उभा राहतो. याच सांख्यनिष्ठेची श्रीकृष्णाने गीतेत प्रशस्ति केली आहे.

सांख्ययोगी पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पंडिताः

एकमय्यास्थितः सम्यग्भूयोर्विन्दते फलम् ॥५-४॥

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्गौरेरपि गम्यते

एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥५॥

“सांख्य व योग यांना अज्ञानी भिन्न मानतात, ज्ञानी नव्हे. यापैकी कोणत्याही एका मार्गाचे संपूर्ण पालन केल्यास उभयतांचे फल प्राप्त होते - ४. सांख्यनिष्ठेने जे स्थान प्राप्त होते ते योगनिष्ठेनेही प्राप्त होते. सांख्य व योग यांना जो एकरूप पाहतो तो खरे जाणतो - ५.” श्लोक १३-२४ मध्येही सांख्यशास्त्राचा सादर उल्लेख आहे. आणि सांख्यदर्शन प्रतिपादक कपिलमुनीला श्रीकृष्ण आपली एक विभूती मानतात.

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः ।

गन्धर्वाणां चित्रशः सिद्धानां कपिलो मुनिः ॥१०-२६॥

“सर्व वृक्षात मी पिंपळ व देवर्षीत नारद आहे, गंधर्वात मी चित्रश व सिद्धामधे कपिल मुनी आहे.” सांख्यदर्शनाविषयी इतकी गौरवाची भाषा काढणारे श्रीकृष्ण काही क्षणापूर्वीच अर्जुनाचा तिकडे कल दिसला असता, तर ‘अनार्य’, ‘अकीर्तिकर’ (२-२), ‘क्लैब्यं’, ‘क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं’ (२-३) अशा तिरस्कारदर्शक शब्दांनी त्याची भर्त्सना करणे संभव होते काय ?

परंतु याशिवाय प्रत्यक्ष अर्जुनाच्याच प्रारंभिक उद्गारात संन्यास-वादाकडे कल दिसतो काय ते पाहू. सुरवातीस संजयाचे स्वतःचे प्रसंग-वर्णनात्मक जे उद्गार आहेत (श्लोक १-२८ पूर्वार्ध, १-४७, २-१) त्यांत त्याने अर्जुनाची सांख्यनिष्ठेकडे प्रवृत्ती दर्शविणारे अवाक्षरही नाही. श्रीकृष्णांच्या उद्गारातही (२-२, ३, ११) नाही. बाकी राहिले स्वतः अर्जुनाचे साडेतेवीस श्लोक. यातील सुरुवातीच्या साडे तीन श्लोकात (१-२८ उत्तरार्ध, २९, ३०, ३१) अर्जुनाने स्वतःच्या शारीरिक व मानसिक क्षुब्धावस्थेचे वर्णन केले आहे. त्यात या भीषण तळमळीचे कारण “हे युद्धार्थ समोर उपस्थित स्वजन पाहून” (१-२८) असे म्हटले आहे. त्यात

कोठेही सांख्यनिष्ठामूचक शब्द नाही.

अर्जुनाच्या मनात वैराग्य उजाडले नव्हते.

अर्जुन म्हणतो -

न कांक्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च ।

किं नो राज्येन गोविंद किं भोगैर्जीवितेन वा ॥१-३२॥

“कृष्णा, मला (या युद्धात स्वकुलवधाचे महापाप करून प्राप्त होणाऱ्या) विजयाची, राज्याची व सुखांची इच्छा नाही; कृष्णा (अशा प्रकारे प्राप्त) राज्याने, भोगांनी, व जिवंत राहण्यानेही आमचे काय भले होणार ?”

परंतु या विशिष्ट परिस्थितिसापेक्ष विरक्तिपर उद्गारांचा अर्थ इतःपर अर्जुनाला कोणत्याही स्थितीत विजय, राज्य, सुख, भोग किंबहुना जीवितहि नकोसे झाले होते असा नव्हे. कपिलवस्तूच्या राजा शुद्धोदनाचा पुत्र सिद्धार्थ याने रुग्णावस्था, वृद्धावस्था व मृतावस्था यांचे एकदाच दर्शन घेतल्याबरोबर त्याच्या अंतःकरणात सर्व सांसारिक भोगांविषयी संपूर्ण (कोणत्याही अटीविरहित) वैराग्य उत्पन्न झाले. तसा काही प्रकार अर्जुनाच्या मनाचा झाला होता काय ? भाष्यकार मधुसूदनसरस्वतींना या श्लोकात संन्यास ग्रहणाच्या पूर्वतयारीस्वरूप ‘ऐहिकफलविराग’ दिसतो. (गूढार्थदीपिका, श्लोक २-६ वरील भाष्य). पण अर्जुनाच्या मनातली ऐहिक भोगांविषयीची इच्छा मूलतः नष्ट झाली नव्हती. मात्र त्याची एक अट होती जी त्याने श्लोक ३५ व ३७ मध्ये दिग्दर्शित केली आहे. स्वजन वध करून ऐहिक सुख भोगण्याची त्याला इच्छा नव्हती. त्यांत त्याला महत्पाप दिसत होते. पण याचाच अर्थ असा की, स्वजनवधाचे पाप टाळून राज्यादि भोगांचा मार्ग कोणी दाखविला तर त्याचा स्वीकार करण्यास तो तयार होता. बत्तिसाव्या श्लोकात विजयराज्यादिकांबद्दल अनिच्छा प्रदर्शित केल्यावर, ही एकदम उद्भवलेली निरिच्छता विनशर्त नसून सशर्त आहे, हे अर्जुनाने त्यापुढील श्लोकात स्पष्ट केले आहे. निकट आत्मांना मारून राज्य भोगण्यात काय हंशील ? या परिस्थितीने भांबावून-पूर्ण वैराग्य अथवा संन्यासवृत्ति अंतःकरणात उदय पावली म्हणून नव्हे - अर्जुनास त्या क्षणी राज्यादि गोष्टी नकोशा झाल्या होत्या.

श्रीकृष्णांनी अर्जुनाच्या मोहाचे हे स्वरूप बरोबर ओळखले. त्यांनी सुरवातीसच अर्जुनाला म्हटले की, हे ‘धर्म्य’ (न्याय्य) युद्ध करण्यात काहीही पाप नाही (२-३८), उलट हे तुझ्यासाठी श्रेयस्कर आहे (२-३१).



अर्जुनाचा विरोध केवळ एका विशिष्ट कर्माला होता. श्लोक १-३४ व ३५ मध्ये अर्जुनाने आपली वास्तविक मनोव्यथा स्पष्ट केली आहे.

आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः ।

मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः सम्बन्धिनस्तथा ॥१-३४॥

एतात्र हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन ।

अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकुले ॥३५॥

“ आचार्या, पित्यासमान वडील आप्त, पुत्रांसमान लहान व्यक्ती व त्याचप्रमाणे आज्ञे, मामे, सासरे, नातू, शालक व अन्य नातेवाईक - ३४, यांना कृष्णा, पृथ्वीसाठीच तर काय पण त्रैलोक्याच्या आधिपत्यास्तवही मी, माझा प्राण घेतला जाणार असला तरी, मारू इच्छित नाही ” - ३५

कोणत्याही परिस्थितीत आणि कशाही आमिषास्तव अर्जुन हे ‘महापाप’ करू चाहत नव्हता. आणि यानंतर श्रेष्ठ श्लोक २-४ पावेतो अर्जुनाने याच कल्पनेचे नाना प्रकारे विश्लेषण व विवरण केले आहे. स्वजन वधाचे घोर परिणाम त्याने तेथे चित्रित केले आहेत. पण त्यात सांख्यप्रणीत कर्मसंन्यासाचे दर्शन कोठे होते ? कर्म हे मुळातच बंधनकारक असते, कोणताही किंतु न बाळगता कर्ममात्राचा त्याग केला पाहिजे असा विचार अर्जुनाच्या या प्रदीर्घ उद्गारावलीत नाही. वस्तुस्थिती ही आहे की, त्याचा विरोध केवळ एका विवक्षित कर्माला होता; सर्वच कर्मांना नाही. आणि ते एक कर्म होते - त्यासमयी स्वजनां विरुद्ध युद्ध. त्याचा विरोध त्या एका विशिष्ट युद्धाला होता, सर्वच युद्धाना नव्हे. आणि युद्धाशिवाय अन्य लौकिक कर्मांच्या त्यागाची यत्किंचितही कल्पना त्याक्षणी त्याच्या मनात नव्हती. भाष्यकार मधुसूदन सरस्वती श्लोक १-३१ च्या स्पष्टीकरणात म्हणतात, “ अस्वजनपि युद्धे हत्वा श्रेयो न पश्यामि । ... एवमस्वजनवधेऽपि श्रेयसोऽभावे स्वजनवधे सुतरा तद्भाव इति ज्ञापयितुं स्वजनमित्युक्तम् । ” परंतु अस्वजनांना रणात मारणे श्रेयस्कर नाही असे अर्जुनाने सुचविलेले नाही. त्याचा आक्षेप केवळ स्वजनवध ( आणि तोहि स्वार्थासाठी ) करण्यास होता. त्यात त्याला महापाप भासले.

क्षत्रधर्माचे यथोचित पालन करण्यास अर्जुन केव्हाही तयार होता. विराट राजाचे पदरी असताना विराटातर्फे याच धार्तराष्ट्रावर त्याने शस्त्र चालविले होते ! पण स्वजनांविरुद्ध स्वतःचे शौर्य स्वतःच्याच ऐहिक सुखोपभोगार्थ वापरण्याची कल्पना त्याच्या मनाला महापाप स्वरूप वाटली आणि त्याचे मन त्यापासून तळमळून मागे सरले ! आणि मन मागे सरताच

शरीर मटकन खाली बसले !

वरील विवेचनावरून अर्जुनाच्या प्रारंभिक विचारसरणीचा सर्वकर्मसंन्यासनिष्ठेशी संबंध नव्हता हे उघड होईल. अर्जुन कर्माच्याच प्रांतात विचार करत होता; केवळ एका विशिष्ट कर्माविषयी त्याची मति फिरली होती. आणि ते विशिष्ट कर्म त्यावेळी त्याचे आवश्यक कर्तव्य होते म्हणून तो, कर्मत्याग नव्हे, कर्तव्यत्याग करण्यास उद्युक्त झाला होता हे म्हणणे संयुक्तिक होईल. गीतेत पुढे जाऊन कर्मसंन्यासवादाचा उल्लेख असून त्याची कर्मयोगाशी तुलनाही केलेली असली, तरी अर्जुनाच्या मनात प्रथमपासून कर्मसंन्यासनिष्ठा उद्भवली होती व तिला अनुलक्षून श्रीकृष्णाने अर्जुनाला उपदेश केला असे नव्हे.

अर्जुन खरोखर भिक्षापात्र व भगवे चाहत होता काय ?

दुसऱ्या अध्यायातला पाचवा श्लोक असा आहे -

गुरुनहत्वा हि महानुभावान्

श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके

हत्वार्थकामान्स्तु गुरुनिदैव

भुजीय भोगान्कथिरप्रदिशान् ॥२-५॥

“ परम आदरणीय अशा या गुरुजनांना मारण्यापेक्षा या पृथ्वीतलावर भीक मागून पोट भरणेदेखील श्रेयस्कर आहे; ( कौरवांच्या ) आर्थिक ( द्रव्याच्या ) आकर्षणात फसलेल्या या गुरुजनांना मारून याच लोकी त्यांच्या रक्ताने माखलेले भोग भोगावे लागतील. ”

अर्जुनाचा संन्यासाश्रमाकडे कल झाला होता असे म्हणणाऱ्यांना या श्लोकात आधार दिसतो. यात तो म्हणतो की, श्रेष्ठ गुरुजनांना मारून त्यांच्या रक्ताने लांछित ऐहिक भोग भोगण्यापेक्षा भीक मागून पोट भरणे देखील बरे ! या पराचा कावळा करून भाष्यकारांनी अर्जुन संन्यासाश्रम घ्यावयास निघाला होता येथपावेतो उडरी मारली आहे. आणि संन्यासाश्रमावरून संन्यासवृत्तीवर व तेथून संन्यासनिष्ठेवरही जाण्यास त्यांनी कमी केलेले नाही !

पण वस्तुतः अर्जुन नुसता संन्यासाश्रम तरी घेण्यासाठी खरोखर तयार झाला होता काय ? स्वजनवध करण्यापेक्षा भिक्षात्रसेवन देखील बरे इतकेच तो म्हणतो. मधुसूदनसरस्वतींना या भिक्षात्राच्या उल्लेखात संन्यास प्रतिपादन दिसते. ( मागील प्रकरणात उद्धृत त्याचे श्लोक २-६ वरील भाष्य पाहा ). सत्याच्या पालनार्थ हरिश्चन्द्र राज्यत्याग करून पत्नीपुत्रासह



निघाला, तसा मीही या युद्धात स्वजनवध करून राज्य मिळविण्यापेक्षा सहकुटुंब भिक्षाटन देखील पसंत करीन असाही अर्जुनाचा आशय असणे असंभवनीय किंवा संदर्भास सोडून नाही.

पण, भिक्षात्र सेवन करणे म्हणजे संन्यासाश्रम धारण करणे असेही आपण गृहित धरून चाललो, तरी पुढला मुख्य प्रश्न असा की, भिक्षात्र सेवन करण्यास तरी अर्जुन खरोखर तयार झाला होता काय? अर्थवादात्मक उद्गारांचा भाष्यकारांनी येथे भलताच विपर्यास केला आहे. एखादा मनुष्य जर कचेरीच्या कामाने अतिशय त्रासून 'ही नोकरी करण्यापेक्षा पोटात काटेदेखील घातलेले बरे!' असे वैतागाने म्हणू लागला, तर तो खरोखरच पोटात काटे भरण्यासाठी तयार झाला आहे असे म्हणणे सुज्ञपणाचे ठरेल काय? या अशा उद्गारांना अर्थवादाइतपतच महत्त्व देऊन, त्या व्यक्तीला त्या नोकरीचा अतीव वीट आला आहे इतकाच अर्थ घ्यावयाचा! अर्जुन जेव्हा हा असा स्वजनवध करण्यापेक्षा भिक्षात्रदेखील सेवन करणे बरे असे हृदय तळमळून म्हणतो, तेव्हा त्याला त्या युद्धाविषयी किती परमावधीचा तिटकारा वाटू लागला होता हे समजते; त्याच्या मनात भिक्षात्रसेवनाची आवड उत्पन्न झाली होती हे म्हणणे चुकीचे आहे. पण तरीही टिळक म्हणतात. ( 'गीतारहस्य' पृ. ८२६ ) "स्वधर्मप्रमाणे प्राप्त झालेले युद्ध सोडून देऊन भीक मागण्यास तयार झालेल्या अर्जुनास आपले कर्तव्य करावयास प्रवृत्त करण्यासाठी गीता उपदेशिली आहे, हे पहिल्या अध्यायावरून स्पष्ट आहे." तसेच दुसरे एक भाष्यकार म्हणतात, "परिणाम असा झाला की, तो स्वतःचा क्षात्रधर्म सोडून देण्याच्या वेतात आला व भिक्षावृत्तीने उपजीविका चालविणाऱ्या ब्राह्मणांचा धर्म स्वीकारावा, अशी त्याला दुष्टबुद्धि झाली." ( भानु संपादित श्रीमद्भगवतगीता, भाग चवथा, पृ. ७० )

‘अपि’ शब्दाकडे भाष्यकारांचे दुर्लक्ष

अर्जुनाने ‘भैक्ष्य’ (भिक्षात्र) या शब्दाला लागूनच ‘अपि’ (देखील) हे अव्यय स्पष्टपणे वापरले आहे. हे अव्यय उघडच तुलनात्मक असून, वाक्याच्या पूर्वार्थात एका वस्तूचा उल्लेख केल्यावर उत्तरार्थात या अव्ययाचा उपयोग करून वस्तू दुसऱ्या वस्तूचा निर्देश करीत असतो. ज्यावेळी पहिल्या वस्तूचा निर्देश समतिपर असतो त्यावेळी या अव्ययाने निर्दिष्ट दुसऱ्या वस्तूबद्दलही खरोखर संमतीच व्यक्त होत असते. पण ज्यावेळी पहिल्या वस्तूबद्दल विरोध प्रदर्शित केलेला असतो, त्यावेळी या अव्ययाने

निर्दिष्ट केलेला दुसऱ्या वस्तूचा उल्लेख केवळ अर्थवादात्मक असून, त्यामुळे बोलणाऱ्या व्यक्तीची त्या (दुसऱ्या) वस्तूविषयी स्वीकृति व्यक्त न होता, केवळ पहिल्या वस्तूविषयीचा विरोध मात्र तीव्र होतो हे पुढील वाक्यप्रयोगांवरून स्पष्ट होऊ शकेल -

१) मी हे कृत्य करण्यास तयार आहे; याच्या ऐवजी किंवा याशिवाय ते कृत्य देखील करण्यास तयार होईन.

२) मी हे कृत्य करण्यास तयार नाही; यापेक्षा ते करण्यास तयार होईन.

३) मी हे कृत्य करण्यास तयार नाही; यापेक्षा ते देखील करण्यास तयार होईन.

या त्रयीत पहिल्या दोन वाक्यप्रयोगांच्या उत्तरार्धातील विधाने स्वतंत्रपणे अर्थवाहक आहेत; तेथे व्यक्ती 'त्या' कृत्याविषयी खरोखरच संमति व्यक्त करीत आहे. या आशयाचा हा श्लोक पाहा -  
अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।  
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥९-३०॥

“अत्यंत दुराचारीही जर (पापांची फळे भोगल्यानंतर) माझी अनन्य भक्ति करेल तर त्याला साधूच मानावे; कारण त्याची बुद्धि उचित दिशेने स्थित झालेली असते.” यातील ‘अपि’चा प्रयोग उपरोक्त प्रथम प्रकारचा आहे. ‘माझ्या अनन्यभक्तीने सज्जन साधुत्व प्राप्त करतो, इतकेच नव्हे तर दुर्जनांतील दुर्जनही साधुत्व प्राप्त करू शकतो.’ यात अर्थवाद नाही.

परंतु, तिसऱ्या वाक्यप्रयोगातला उत्तरार्ध ‘देखील’ (अपि) मुळे अर्थवादात्मक होऊ शकतो. त्यात ‘ह्या’ कृत्याविषयी पूर्वार्धात व्यक्त निषेध तुलनेने अधिक स्पष्ट होतो. पण तेवढ्याने ‘त्या’ कृत्याविषयी संमती निश्चित दर्शवली जात नाही. उपरोक्त तृतीय वाक्यप्रयोगाला अधिक तीव्र करून पुढील चौथा प्रकार होईल - (४) “मी ‘हे’ कृत्य मुळीच (कधीही) करणार नाही; यापेक्षा ‘ते’ कृत्य देखील करण्यास तयार होईन.” यात उत्तरार्ध निश्चित अर्थवादात्मक असून, ‘त्या’ कृत्याविषयी संमती नसते. अर्जुनाचा श्लोक २-५ मध्ये वाक्यप्रयोग पहिल्या दोन प्रकारचा तर नाहीच, पण तो तिसऱ्या सौम्य प्रकारचाही नसून तीव्रतम असा चौथा आहे. त्यात वस्तुतः अर्जुनाची भिक्षाचर्याविषयी यत्किंचितही वास्तविक संमती नाही.

कितीच भाष्यकार या श्लोकाचा अर्थ करताना या ‘अपि’चा उल्लेखच टाळतात.

वामनांची पुढील समश्लोकी या दृष्टीने सदोषच आहे : “न मारिता



या वडीलां गुरुतें शिक्षा खाणे वाटते श्रेय माते. " मुक्तेश्वरांची ओवीही याच प्रकारची आहे : " गुरु वधोनि राज्य करणे । त्याहून बरे शिक्षा मागणे. " ज्ञानेश्वरीतील ओवीतही 'अपि' चा अर्थ वगळला गेला आहे : " हे ऐसे रणि वधावे । मग आपण राज्यसुख भोगावे । हे मना नये आघवे जीवितेसि ॥४५॥ हें येणे माने दुर्भर । जें यया ही होनि भोग सपुर । ते असतु एथ शिक्षा वर । मागता भली ॥४६॥ " डॉ. राधाकृष्णन् यांचें देखील या श्लोकाच्या भाषांतरात या महत्त्वाच्या अव्ययाकडे दुर्लक्ष झाले आहे : "It is better to live in this world by begging than to slay these honoured teachers. " श्री. महादेव देसाई तर एक पाऊल आणखीच पुढे गेले आहेत : (२) " It were better far to live on alms in this world than to slay these venerable elders. " या भाष्यकारांनी 'अपि' ला अयोग्य प्रकारे वगळले आहे. याशिवाय पाहा भानुसंपादित श्रीमद् भगवद्गीता, भाग चवथा पृ. १५४.

अर्जुनासारख्या वीर पुरुषाने शिक्षात्रसेवनास 'अपि' या अव्ययासह उल्लेखून त्याचे नीचत्वच सूचित करावे यातले कारण काय स्पष्ट करावयास हवे ? जगजेता होण्याची ज्याची पात्रता, योगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण ज्याचा परम सखा, त्या अर्जुनाच्या मनाला दारोदार भीक मागून स्वतःची खळगी भरण्याची कल्पनाही किती दुःसह वाटत असली पाहिजे हे सहज समजण्यासारखे आहे.

असे असता अर्जुनाचा तो उल्लेख स्वतंत्र अर्थवाहक मानून तो भिक्षाटन करावयास सिद्ध झाला होता, संन्यास ग्रहण करू पहात होता, असे म्हणजे त्या क्षत्रियकुलशिरोमणि नरोत्तमाविषयी केवढा गौरवमज करणे आहे !

आणि अर्जुनाने 'अपि' चा हा असा प्रयोग येथेच केला आहे असे नसून, वर उल्लेखिलेल्या -

1. The Bhagavadgita P. 99.

2. The Gita according to Gandhi, P. 146.

मात्र महात्मा गांधींच्या मूळ भाषांतरात 'अपि' चा अर्थ केलेला आहे. (अनासक्तियोग 'पाहा.) आणि जयदयाल गोयंदका कृत 'तत्त्वविवेचनीरीका' (हिंदी) मध्येही ते दिले आहे.

एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन  
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ॥१-३५॥

"यांना, कृष्णा, पृथ्वीसाठीच तर काय, पण त्रैलोक्याच्या आधिपत्या-स्तवही मी, माझा प्राण घेतला जाणार असला तरी, मी मारू इच्छित नाही." या श्लोकातही त्याने याच अर्थवादसूचक प्रयोगाने या अव्ययाचा एकदाच नव्हे तर दोनदा उल्लेख केला आहे. 'घ्नतोऽपि' मधील 'अपि' कडे दुर्लक्ष करून अर्जुन राणाणावर अप्रतिकार अवस्थेत शत्रूंच्या बाणांनी स्वतःचा देह विदीर्ण करून घेण्यास खरोखरच तयार झाला होता असे म्हणणे संयुक्तिक होईल काय ? भिक्षान्नाचा व या अशा मरणाचा अर्थवादात्मक उल्लेख करून स्वजनवधाच्या पापाची वाटणारी धास्ती मात्र अर्जुनाने हृदयविदारकरीत्या स्पष्ट केली आहे !

आणि 'अपि' चा प्रयोग अर्जुनाने वरील श्लोकाच्या उत्तरार्धात पुनः केला आहे; त्यावरून त्याला पृथ्वीचे किंवा त्रैलोक्याचे राज्य कोणत्याही परिस्थितीत नकोसे झाले होते असा अर्थ योग्य होणार नाही. त्रैलोक्याचे राज्य इतके वांछनीय असूनही, त्याच्याप्रीत्यर्थ देखील मी हे स्वजनवधपाप करण्यास तयार नाही हा त्याचा खरा आशय आहे.

आणि त्याच्या मनात सांख्यमार्गीय कर्मसंन्यास निष्ठेने प्रभाव केल्याने त्या भूमिकेवरून तो युद्धास नकार देत होता हे विधान तर अगदी निराधार व कृष्णार्जुनांच्या स्पष्ट उद्गारांशी विसंगत आहे. टिळक म्हणतात, (गीतारहस्य पृ. ४४४) "अर्जुन ज्ञानी पुरुषप्रमाणे वागू चहात असून कर्मसंन्यासाच्या बाता सांगू लागला होता. म्हणून जगात ज्ञानी पुरुषांच्या आचरणाचे "कर्म सोडणे" व "कर्म करणे" असे जे दोन पंथ म्हणजे निष्ठा आढळून येतात तेथपासूनच भगवंतांनी आपल्या उपदेशास प्रारंभ केला आहे... ज्ञान किंवा सांख्यनिष्ठेच्या आधारे अर्जुन कर्मसंन्यासाच्या गोष्टी बोलू लागला होता." अशाच प्रकारे श्री शंकराचार्य आपल्या भाष्याच्या आरंभी अर्जुनमानस चित्रित करताना म्हणतात : "शोकमोहाभ्यां ह्यभिभूतविवेकविज्ञानः स्वत एव क्षत्रधर्मे युद्धे प्रवृत्तोऽपि तस्माद्युद्धादुपराम । परधर्मच भिक्षाजीवनादिकं कर्तुं प्रवृत्ते." (अर्थ - 'अर्जुन स्वतःच क्षत्रियधर्माचित युद्धाला प्रथम प्रवृत्त झाला असताही, (ऐनवेळी) शोकमोहाने सारासारविवेकशक्ति दडपली जाऊन त्या युद्धपासून परत फिरला. आणि भिक्षाजीवनादि परधर्म (क्षत्रियेतर वर्णाचा धर्म) अंगिकारण्यास तो तयार झाला). त्याने 'भिक्षाजीवनादि प्रतिषिद्ध' कर्माचा अंगिकार मनानेही खरोखर केला नव्हता.



अर्जुनास त्यावेळी मोह पडला होता हे खरे; पण त्याचा संबंध भैक्षचर्याशी नव्हता. त्याचे निश्चित स्वरूप पुढे सविस्तर चर्चितले आहे. मी हे युद्ध करणार नाही, आणि उलट संन्यासाश्रम घेईन असे त्या मोहाचे संयुक्त स्वरूप नव्हते. अर्जुनाचा विरोध केवळ त्या विशिष्ट स्वजनयुद्धाला होता.

‘धर्म’ शब्दाचा अर्थ त्या प्रसंगीचे विहित स्वकर्तव्य असा केल्यास अर्जुन स्वधर्मत्यागास प्रवृत्त झाला होता असे म्हणता येईल; परंतु ‘धर्म’ शब्दाचा क्षत्रियधर्म असा व्यापक अर्थ केल्यास तसे म्हणता येणार नाही.

\*\*\*

## प्रकरण - ३

### अर्जुनाविषयी आणखी काही भ्रम

अर्जुन मानसांत त्यावेळी कौर्वाविषयी ममता होती काय? विनोबा भावे अर्जुनाच्या प्रारंभिक अवस्थेला उद्देशून म्हणतात, “आपणाला अर्जुनाची भूमिका तपासली पाहिजे... अर्जुन रणांगणावर उभा राहिला तो कृतनिश्चयाने आणि कर्तव्यभावनेने उभा राहिला होता... अर्जुन सभोवार नजर फिरवितो तो त्याला काय दिसते? दोन्ही बाजूला आपल्याच नातेवाईकांचा, सग्यासोयऱ्यांचा प्रचंड मेळावा उभा आहे... तो सारा स्वजनसमूह पाहून त्याच्या हृदयाची कालवाकालव सुरु होते. त्याला फार वाईट वाटते... हे असे कां? काय त्याच्या ठिकाणी अशोकाप्रमाणे अहिंसावृत्तीचा उदय झाला होता? नाही, ही सारी स्वजनासक्ति होती. आजच्या घटकेलाही जर समोर गुरू, बंधू, आप्त नसते तर त्याने शत्रूची मुंडकी चेंडूप्रमाणे उडविली असती. पण आसक्तिजन्य मोहाने त्याची कर्तव्यनिष्ठा ग्रासली. आणि मग त्याला तत्त्वज्ञान आठवले... तो आता युद्धच मुळात पाप आहे असे उसने प्रतिपादन करू लागला. युद्धाने कुळक्षय होईल, धर्म लोपेल व्यभिचार-वाद पसरेल, दुर्भिक्ष ओढवेल, समाजावर संकटे येतील असे अनेक मुद्दे तो कृष्णालाच समजावून सांगू लागला. मला ह्या ठिकाणी एका न्यायाधीशाची गोष्ट आठवते. एक न्यायाधीश होता. शेकडो अपराध्यांना त्याने फाशीची शिक्षा दिली होती. परंतु एके दिवशी त्याचा स्वतःचा मुलगा खुनी म्हणून त्याच्यासमोर उभा करण्यात आला. त्याच्यावरचा खुनाचा आरोप सिद्ध होऊन याला फाशीची शिक्षा देण्याची न्यायाधीशाला पाळी आली. पण तसे करताना तो न्यायाधीश कंचरला. तो बुद्धिवाद बोलू लागला, ‘फाशीची शिक्षा अमानुष आहे. ती देणे मनुष्याला शोभत नाही. मनुष्याला सुधारण्याची आशा त्यामुळे नष्ट होते. खून करणाऱ्याने भावनेच्या भरात खून केला, परंतु त्याच्या डोळ्यावरचा खून



उतरल्यावर त्या माणसाला गंभीरपणे उचलून फासावर लटकवून मारावयाचे हे समाजाच्या माणुसकीला लाजिरवाणे व काळिमा फासणारे आहे. 'वगैरे मुद्दे तो न्यायाधीश मांडू लागला. तो मुलगा समोर न घेता तर मरेपर्यंत न्यायाधीशसाहेब खुशाल फाशीची शिक्षा देत राहते. मुलाबद्दलच्या ममत्वामुळे न्यायाधीश असे बोलू लागला. ते बोलणे आंतरिक नव्हते. ते आसक्तिजन्य होते. हा माझा मुलगा ह्या ममत्वात निर्माण झालेले ते वाडमय होते. अर्जुनाची ह्या न्यायाधीशासारखी स्थिती झाली. ( 'गीता प्रवचने' पृ. ४-५ ).

त्या न्यायाधीशाच्या आसक्तिमय भूमिकेत व अर्जुनाच्या मनःस्थितीत साम्य आहे काय ? तो न्यायाधीश पुत्रप्रेमामुळे त्याच्या खुनी कृत्याचे समर्थन करू पहात होता, आणि म्हणून याला मी फाशी देऊ नये इतकेच नव्हे तर इतर कोणीही त्याला फाशी देऊ नये, अशी त्याची तळमळ होती. व अर्थातच ती मुलावरील ममतेमुळे आहे. परंतु अर्जुनाच्या उद्गारात कौरवांच्या समर्थनपर एकही शब्द दाखविता येईल काय ? उलट अर्जुनाने कौरवांना, "कुलक्षय व मित्रद्रोहाचे घोर पातक करण्यास उद्युक्त झालेले पापी" (१-३८), 'अशत्रु व अप्रतिकार अशाही व्यक्तीचा प्राण घेण्याइतके क्रूर हिंसक', (१-४६), 'अर्थाथ' (२-५), इत्यादि प्रकारे निंदण्यास कमी केले नाही. त्याने त्यांना वधाईच मानले आहे. त्यांना उद्देशून त्याने 'आततायी' शब्द वापरला आहे. मनुस्मृतीतील -

गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम्

आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् ॥

नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन ॥ मनुस्मृति : ८-३५०, ५१ ॥

"आततायी व्यक्ती समोर उपस्थित झालेला तो गुरु, बाल, वृद्ध वा विद्वान ब्राह्मण आहे याचा विचार न करिता, त्याचा वध करावा. आततायी मनुष्याचा वध केल्याने मारणाऱ्याला काहीही दोष लागत नाही. " या श्लोकात आततायी व्यक्ती निःशंक वधाई सांगितली आहे हे पाहिले, म्हणजे अर्जुनाच्या 'पापमेवाश्रयेदस्मान्' न्हवतानाततायिनः' (१-३६) या विधानाचा खरा अर्थ ध्यानात येतो. अर्जुनाचा आशय असा आहे की, आततायी माणसांना मारणे योग्यच असले व त्यात सर्वसाधारणपणे पाप नसले, तरी हे धार्तराष्ट्र आमच्या कुलांतलेच असल्याने, या विशिष्ट आततायांना मारून आमच्या पदरी मात्र (कुलक्षयाच्या दोषामुळे) पापच पडेल.

शंकराचार्य आपल्या भाष्याच्या प्रास्ताविकात अर्जुनाच्या

शोकमोहाची उपपत्ति सांगताना म्हणतात, "तथा ह्यर्जुनेन राज्य गुरुपुत्रमित्र-सुहृत्स्वजनसंबन्धिबान्धवेष्वहमेषां ममैत इत्येवंप्रत्ययनिमित्तस्नेहविच्छेदादि-निमित्तावात्मनः शोकमोहौ प्रदर्शितौ 'कथं भीष्ममहं संख्ये' इत्यादिना. " यात आचार्यांचाही रोख अर्जुनाच्या मनातील भीष्मद्रोणकौरवांविषयी असलेल्या तथाकथित ममत्वभावनेवरच दिसतो. त्यात अर्जुनाच्या शोकमोहाच्या मुळाशी असलेल्या पापभयाचा उल्लेख नाही. रामानुजाचार्य पहिल्या अध्यायाच्या समारोपात म्हणतात, "स तु पाथो महामनाः परमकारुणिको दीर्घबन्धुः परमधार्मिकः सन्नातुको भवद्भिः अतिघोरैः मारणैः जगुर्गृहादिभिः असकृद्वंचितः अपि परमपुरुषसहायः अपि हनिष्यमाणान् भवदीयान् विलोक्य बन्धुस्नेहेन परमया च कृपया धर्माधर्मभयेन च अतिमात्रखिन्नसर्वगात्रः सर्वथा अहं न योत्स्यामि इति उक्त्वा बन्धुविश्लेषजनितशोकसंविग्रमानसः सशरं चापं विमुञ्ज्य रथोपस्थे उपाविशत्. " यात रामानुजाचार्य त्या युद्धाला अर्जुन विरोधाचे 'बन्धुस्नेह' हे एक कारण इतकेच नव्हे तर प्रमुख कारण मानीत आहेत. संत ज्ञानेश्वर आपल्या भाष्यात म्हणतात, "तथापरी पार्थु। अतिस्नेहे मोहितु। मग सखेद असे बोलतु। श्री अच्युतेसी ॥१-९२॥ जे वज्रापासोनि काठिण। दुर्धर अतिदारुण। त्याहून असाधारण। हे स्नेह नवल ॥१-९९॥ तेथ उत्तीर्ण होईल प्राणें। परि तें कमळदल चिरू नेणे। तैसे काठिण कोवळेपणें। स्नेह देखा ॥१-१०२॥ ते कुळ देखोनि समस्त। स्नेह उपनले अद्भुत। तेणे द्रवले असे चित्त। कवणेपरी ॥२-२॥ " 'गीतारहस्या'त टिळक म्हणतात, "एके बाजूस क्षत्रियधर्म 'लढाई कर' म्हणून सांगत होता, आणि दुसरीकडे पितृभक्ति, गुरुभक्ति, बंधुप्रेम, सुहृत्प्रीति हे धर्म त्यास खेचून माधारी ओढीत होते ! ...आणि अखेर, लांबच्या क्षत्रियधर्मावर, मनुष्यास स्वभावतःच जास्त प्रिय वाटणाऱ्या ममत्वाचा म्हणजे जवळच्या बंधुस्नेहाचा पगडा बसून मोहाने तो असे म्हणू लागला की, पितृवध, गुरुवध, बंधुवध, सुहृद्वध, किंबहुना संबंध कुलक्षय, असली घोर पापे करून राज्य मिळविण्यापेक्षा पोटाची खळगी भरण्यासाठी भिक्षा मागणे काय वाईट ? " (पृ. २४-२५). सातवळेकर लिहितात, "आपल्या संबंधीयांच्या प्रेमात अर्जुन अडकला आहे" ( 'पुरुषार्थ बोधिनी' टीका पृ. ३७ ) "आपले संबंधी लोक कितीही दुष्टपणा करीत असले, तरी त्यांना शिक्षा करता कामा नये, तर त्यांचा पक्षपात केला पाहिजे, असे अर्जुनाचे मत यावेळी बनले होते ! स्वजन व आत्मसंबंधी असल्यामुळे त्यांना क्षमा करावी, असा जो अर्जुनाचा विचार झालेला दिसत आहे, तो त्याचा भ्रम आहे. तोच मोह, तीच अविद्या आणि तेच अज्ञान



होय.” ( सदर पृ. ३९ )

अर्जुनाच्या मनात त्यावेळी कौरवांबद्दल ममता होती काय ?

पण ज्या कौरवांसाठी ममतेमुळे अर्जुन त्या युद्धाला नकार देत होता असे वर उद्धृत भाष्यकारांचे म्हणणे आहे, ते कौरव त्या युद्धातून सुखरूप बाहेर पडतील असे आश्वासन श्रीकृष्णांनी त्याला दिले नाही; उलट त्यांचा मृत्यु निश्चित आहे हे सांगितले व दाखवले ( अध्याय ११ ). मात्र यांच्या वधाने तुला पाप लागणार नाही असे श्रीकृष्णांनी आश्वासन दिल्यावर अर्जुन शोकविषाद व मोह दूर सारून त्याच स्वजनांवर प्रहार करण्यास तयार झाला. यावरून स्पष्ट आहे की, सुरवातीस त्याच्या युद्धविरोधाचा कौरवांविषयी आत्ममतेचा अथवा बन्धुस्नेहाचा संबंध नव्हता.

अर्जुनाच्या मनातील कृपेचे विशिष्ट स्वरूप

अर्जुनाने श्रीकृष्णास रथ दोन्ही सैन्यांच्या मध्ये उभा करण्यास सांगितले ( १-२१ ). श्रीकृष्णांनी तसे केल्यावर अर्जुनाने सभोवताली पाहिले तेव्हा त्याला उभय सैन्यात एकमेकांसमोर युद्धार्थ उभे स्वजन दिसले ( १-२७ ). त्यांना पाहून अर्जुन परमकृपेने व्याकुळ झाला असे संजय म्हणतो. पण ही कृपा कोणाविषयी होती याचा विचार करणे आवश्यक आहे. ही कृपा कौरवांविषयी किंवा इतरही स्वजनांविषयी होती असे नाही. आपण केवढे महत्पाप ( स्वतःच्या राज्यसुखलोभार्थ स्वजनहत्या ) करण्यास उद्युक्त झालो आहे, आपली मति कशी भ्रष्ट झाली आहे, व आता ऐन रणांगणावर धर्मयुद्धत्याग किंवा स्वजनहत्या यापैकी कोणते तरी एक करण्याची इकडे आड तिकडे विहीर अशा स्वरूपाची पाळी आपल्यावर कशी आली आहे, या सर्व विचार विषादाचा परिपाक त्या ‘कृपे’त उतरला होता ! सारांश, ती ‘कृपा’ म्हणजे अन्य कोणाविषयी दयामाया नसून स्वतःबद्दल होती. कृष्णा ! मला काही कळेनासे झाले आहे, युद्ध केले तरी मला त्यात पाप दिसते, न केले तरी तोही मार्ग पूर्णपणे निदोष वाटत नाही, हातपाय गळत आहेत, अंग कंप पावत आहे, चित्त भ्रमण करीत आहे, मी तुला शरण आलो आहे, या धर्मसंकटात मला योग्य मार्गदर्शन कर, हे त्या ‘कृपयाविष्ट’ अवस्थेचे स्वरूप आहे ! या ‘कृपा’ शब्दाचा अर्थ योगी अरविंद घोष यांनीही असाच ‘आत्मपर’ केला आहे. शुद्ध दयाबुद्धीचे वर्णन करून ते म्हणतात, “But such is not the compassion which actuates Arjuna in the rejection of his work and mission. That is not compassion but an impotence full of a weak self-pity, a recoil from the

mental suffering which his act must entail on himself, “I see not what shall thrust from me the sorrow that dries up the senses” - and of all things self-pity is among the most ignoble and un-Aryan of moods.” ( “Essays on the Gita” First Series, P. 85 )

अरविंदांनी यात म्हटल्याप्रमाणे अर्जुनाच्या मनाला व्यापून टाकणारी ती ‘कृपा’ म्हणजे ‘स्वतःविषयीची अनुकंपा’ होती, अनार्य अशा बुद्धिसंभ्रमाची द्योतक होती. (१) हिलाच उद्देशून श्रीकृष्णाने ‘क्षुद्र हृदयदीर्घत्व’ असे नांव दिले आहे. ती कृपा जर वस्तुतः बंधुप्रेम किंवा भूतदया या स्वरूपाची असती तर श्रीकृष्णाने तिला “अनार्य” व “क्लैब्य” असे संबोधले नसते.

‘कृपा’ शब्दाशी साम्य भासणारे दोन आणखी विशिष्ट शब्द अध्याय २ मध्ये गीताकारांनी वापरले आहेत. ‘कार्पण्य’ व ‘कृपण.’

अर्जुन स्वतःविषयी श्रीकृष्णास म्हणतो -

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः

पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः ।

यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे

शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥२-७॥

“( या समयी ) माझी बुद्धी अज्ञानग्रस्त झाली असून, धर्म-अधर्माविषयी मला मोह झाला आहे, त्याचा खुलासा मी तुला विचारत आहे; ( स्वकुल बांधवांविरूद्ध हे युद्ध करणे अथवा न करणे यात ) वस्तुतः जे श्रेयस्कर आहे ते मला निश्चित सांग, मला तुझा शिष्य जाण, व तुझ्याजवळ बसलेल्या मला उपदेश कर ”

आणि श्रीकृष्णांच्या विस्तृत उत्तरात ‘कृपण’ शब्द असा आला आहे -

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय

बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥२-४९॥

“ अर्जुना, ( ज्यात कार्यकर्मांचे निष्काम आचरण होते अशा साम्यवृत्तीस्वरूप ) ‘बुद्धियोगा’ पेक्षा ( सकाम ) कर्म फार निकृष्ट आहे. तू समत्व बुद्धी ठेव, ‘फल’ ( वैयक्तिक सुखरूप परिणाम ) प्राप्त होण्यासाठी

(१) डॉ. राधाकृष्णन् यांनी ‘कृपा’ शब्दाचा अर्थ करताना हाच अरविंदप्रणीत दृष्टिकोन स्वीकारला आहे.



कर्म करणारे हीनवृत्तीचे, वास्तविक श्रेय न जाणणारे असतात. ” यातील ‘कृपण’ शब्दाचा ‘दया’ या अर्थी ‘कृपा’ शब्दाशी संबंध नाही. ‘कार्पण्य’ शब्द ‘कृपण’ शब्दापासून झाला असून, ‘कृपण’ चे बृहदारण्यक उपनिषदात असे स्पष्टीकरण दिले आहे ( ३-८-१० ), “ यो वा एतदक्षरमविदित्वाऽस्माल्लोकात्प्रैति स कृपणः ” ( अक्षर ब्रह्मतत्त्वाला न जाणून घेता जो या लोकातून प्रयाण करितो तो कृपण ). अर्जुनाच्या मनाचा अशाच स्वरूपाचा ( बौद्धिक मोहस्वरूपी ) प्रकार होता. धर्म व अधर्म, श्रेयस्कर व अधःपातकारक, यात घोटाळा उत्पन्न होऊन माझी बुद्धि काम करेनाशी झाली आहे असे तो म्हणत आहे. त्या ‘कार्पण्य’ शब्दाचा अर्थ कौरवांविषयी दया असा नाही.

अर्जुनाला स्वपक्षीय स्वजनही त्या युद्धात मारले जाण्याची संभावना अर्थातच ज्ञात होती. परंतु त्याने त्याचा दोष कौरवांवर लावला आहे. ( १-३८ ). त्याचा महाविषाद त्याच्या स्वतःच्या हातून त्या युद्धात होणाऱ्या शत्रुपक्षीय स्वजनांच्या वधाविषयी होता; त्याचा तो वारंवार उल्लेख करतो ( १-३६, ३७; २-६ ). आणि श्लोक २-४ मध्ये तो कौरवपक्षातर्फे लढण्यासाठी उभे राहिलेल्या भीष्मद्रोणांसाठी विशेष उल्लेख करतो. त्याची सारी चिंता त्याच्या हस्ते त्याचे कुलबांधव व भीष्मद्रोणादि ज्येष्ठ व्यक्तींच्या वधाने होणाऱ्या पापासाठी आहे.

हे श्रीकृष्णांच्या विश्वरूप दर्शनातील वचनावरूनही दिसून येते. अर्जुनाने विश्वरूप परमेश्वराच्या अजस मुखात शत्रुपक्षीय स्वजनांबरोबर स्वपक्षीय स्वजनही प्रवेश करताना पाहिले -

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः

सर्वे सहेवावनिपालसङ्घैः ।

भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ

सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः ॥११-२६ ॥

वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति

दंष्ट्राकरालानि भयानकानि ।

केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु

संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः ॥२७॥

“ राजांच्या समुदायांसहित हे धृतराष्ट्रपुत्र आणि भीष्म, द्रोण व तसाच हा सूतपुत्र ( कर्ण ) हे सर्व आमच्याही प्रमुख योद्ध्यांसह तुमच्या भीषण मुखात वेगपूर्वक प्रवेश करीत आहेत, आणि काही तर विदीर्ण मस्तकांसह ( तुमच्या ) दातांमध्ये लटकत दिसत आहेत - ( २६, २७ ). ” परंतु अशाप्रकारे

श्रीकृष्णांनी अर्जुनाला त्या युद्धात होणारा स्वपक्षीयांचा संभाव्य मृत्यूही सूचित केला, तरी त्यासंबंधात त्यांनी अर्जुनाला सात्वतास्वरूप काहीही न म्हणता, विश्वरूप दर्शनाचे मुख्य प्रयोजन सांगताना ‘तू शत्रूंचा वध कर’ इतकेच म्हटले ( ११-३३ ). आणि लागलीच श्लोक ३४ मध्ये कौरव पक्षाचे द्रोण, भीष्म, जयद्रथ, कर्ण अशा काही प्रमुख योद्ध्यांचा उल्लेख करून “ मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा. ” ( ‘हे माझ्या द्वारा आधीच मारले गेले आहेत, मृत्युदंडास पात्र ठरवले गेले आहेत’ ); तू यांचा या युद्धात वध कर, याने तुला पाप लागेल अशी चिंता करू नको. ) असा अर्जुनाला पुनः आदेश दिला.

### अर्जुनावर भिन्नेपणाचा आरोप

कुरुक्षेत्रावर कौरवपक्षाविरूद्ध लढण्यास नकार देणाऱ्या महारथी अर्जुनावर प्रत्यक्ष भिन्नेपणाचाही आरोप केला गेला आहे ! आणि विशेष हे की त्यासाठी श्रीकृष्णाच्या वचनात भलताच आधार पाहिला जातो ! अकराव्या अध्यायात विश्वरूपदर्शन प्रसंगी श्रीकृष्ण अर्जुनास म्हणतात -

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत् प्रवृद्धो । लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः ।  
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे । येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ॥११-३१॥  
तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशोलभस्व । जित्वा शत्रून् भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम् ।  
मयैवैते निहता पूर्वमेव । निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥३३॥

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च । कर्णं तथान्यानपि योधवीरान् ।

मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा । युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान् ॥३४॥

“ मी लोकक्षय करणारा वृद्धिंगत ‘काल’ असून येथे ( दुष्ट ) लोकांचा संहार करण्यास प्रवृत्त झालो आहे, शत्रूसैन्यात उभे हे सारे योद्धे तुझ्याविनाही ( तू यांच्याशी हे युद्ध न केले तरी ) जिवंत राहणार नाहीत-३२. म्हणून तू ऊठ, उभा राहा, ( हे युद्ध करून ) यश प्राप्त कर, शत्रूंना जिंकून समृद्ध राज्याचा उपभोग घे. माझ्या द्वारे ( परमेश्वराद्वारे ) हे आधीच मारले गेले आहेत ( मृत्युदंडास पात्र ठरवले गेले आहेत ), ( म्हणून ) अर्जुना, ( आता या युद्धात यांचा प्रत्यक्ष वध करण्यात ) तू केवळ एक निमित्त ( साधन ) हो - ३३, द्रोण, भीष्म, जयद्रथ, कर्ण व तसेच ( दुर्योधनाच्या पक्षाचे ) अन्यही योद्धे माझ्याद्वारा ( आधीच ) मारले गेले आहेत ( मृत्युदंडास पात्र ठरवले गेले आहेत ), आता तू यांचा ( या युद्धात प्रत्यक्ष ) वध कर, ( याने तुला पाप लागेल अशी ) चिंता करू नको, हे युद्ध कर, तू रणांत शत्रूंना जिंकशील - ३४. ”



रामानुजाचार्य या श्लोकाचा आशय बरोबर व्यक्त करतात. “त्वाम् ऋते अपि त्वदुद्योगम् ऋतेऽपि धार्तराष्ट्रमुखाः तव प्रत्यनीकेषु ये अवस्थिता योधाः ते सर्वे न भविष्यन्ति विनश्यन्ति ।... मया एवं एते कृतापराधाः पूर्वम् एव निहताः हनने विनियुक्ताः त्वं तु तेषां निमित्तमात्रं भव ।... द्रोण भीष्म कर्णादीन् कृतापराधतयः मया एवं हनने विनियुक्तान् त्वं जहि त्वं हत्वाः एतान् गुरुन् बन्धून् च अन्यान् अपि भोगसक्तान् कथं हनिष्यामि इति मा व्यथिषाः तान् उद्विष्य धर्माधर्मभयेन बन्धुरेनहेन कारुण्येनमा व्यथा कृतः । यतः ते कृतापराधाः मया एवं हनने विनियुद्धाः अतो निर्विशङ्को युद्धस्व, न एतेषां वधे नृशंसनागन्धः” ( ‘तुड्या शिवायही, तू काही कर्म न केले तरी तुड्या विरोधी सैन्यात उभे कौरवांचे हे सारे प्रमुख योद्धा वाचणार नाहीत, सर्व नष्ट होतील. दुष्कर्म करणारे हे माड्या द्वारे मारले गेले आहेत, म्हणजे मृत्युदंड प्राप्त करण्यास निश्चित केले गेले आहेत. तू यांचा प्रत्यक्ष वध करण्यास केवळ साधन हो... द्रोण, भीष्म, कर्ण आदि जे दुष्कर्मांचाच्या कारणाने माड्याचद्वारे मृत्युदंडार्थ निश्चित केले गेले आहेत, त्यांचा तू वध कर; या गुरुजनांचा व अन्य भोगासक्तांचा वध कसा करावा अशा धर्माधर्मभयाने, बन्धुस्नेहाने, करुणाभावाने चिंताग्रस्त होऊ नको, कारण हे दुष्कर्मांचारी असल्याने मीच यांना मृत्यूपात्र ठरवले आहे; तरी कोणतीही आशंका न बाळगता हे युद्ध कर, यांचा वध करण्यात नृशंसतेचा, मनुष्य हत्येचा, काही दोष नाही. ’) या स्पष्टीकरणात ‘धर्माधर्मभयेन’ शब्दाला जोडून ‘बन्धुस्नेहेन कारुण्येन च’ हे जोडले नसते तर स्पष्टीकरण अधिक संयुक्तिक झाले असते.

टिळकही या श्लोकात जवळजवळ असाच आशय पाहतात, “दुष्ट मनुष्ये आपल्या कर्मांनीच मरत असून त्यांना मारणारा फक्त निमित्तमात्र असल्यामुळे मारणाराकडे त्याचा दोष येत नाही हा कर्मविपाक प्रक्रियेचा सिद्धान्तही ३३ व्या श्लोकात आला आहे” ( गीतारहस्य, पृ. ७६८ )

परंतु या श्लोकात अन्य अनेक अनुवादक व भाष्यकार अर्जुनाच्या मनात शत्रूविषयी भय होते, त्यांना पराजित करण्यास तो साशंक होता, अशी धारणा पाहतात, आणि श्रीकृष्णांनी अर्जुनाला मी तुड्या या शत्रूंना आधीच दुर्बल करून ठेवले आहे, तू त्यांना सहज मारू शकशील, तरी भय सोडून हे युद्ध कर असे त्याला आश्वासन दिले असा भलताच विपर्यस्त अर्थ करतात.

शंकराचार्य म्हणतात, “मया हतास्त्वं जहि निमित्तमात्रेण । मा व्यथिषास्तेभ्यो भयं मा कार्षीः” (१) आणि हे अधिक स्पष्ट करीत ‘गूढार्थ-

दीपिका’ मधे मधुसूदन सरस्वती लिहितात, “हतानां हनने कोवा परिश्रमः । अतो मा व्यथिषाः कथमेव शक्ष्यामीति व्यथां भयनिमित्तां पीडां मा गाः भयं त्यक्त्वा युध्यस्व.” वेंकटनाथ लिहितात, “मा व्यथिषाः कथमेतान् हनिष्यामीति भयनिमित्तं व्यथा मा गाः” ; नीलकंठ ( ‘भारतभावादीपः’ ), “मा व्यथिषाः एते महान्तः कथं हन्तुं शक्या इत्याकुलीभावं मा गाः इत्यर्थः”. या भाष्यकारांनी अर्जुनावर शत्रूपासून भयाचा निराधार आरोप केला आहे, पण “ऋतेऽपि त्वा न भविष्यन्ति सर्वे येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः” चा अर्थ बरोबर केला आहे. परंतु मध्वाचार्यांनी त्याचाही विपर्ययस करून ‘तुड्याशिवाय ( पांडवांशिवाय ) या युद्धात ( उभयपक्षांचे ) सर्व योद्धे मारले जाणार आहेत असे श्रीकृष्णांनी अर्जुनास आश्वासन देऊन त्या युद्धार्थ उभे केले’ असा आशय व्यक्त केला आहे; या स्पष्टीकरणानुसार अर्जुन स्वतःच्या मरणभयाने त्या युद्धाला नकार देत होता, व श्रीकृष्णांनी त्याच्या जीवन रक्षणाचे आश्वासन दिल्यावर तो त्या युद्धासाठी उभा राहिला. भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद ( ‘भगवद्गीता यथारूप’ ) उक्त श्रीकृष्ण वचनाचा असाच अर्थ देतात, “तुम्हारे ( पांडवांके ) सिवा दोनो पक्षांके सारे योद्धे मारे जायेंगे.”

संत ज्ञानेश्वरही मध्वाचार्यांनी दिलेल्या अर्थाप्रमाणे म्हणतात - “तेविंचि कठिण बोलें आससुरी । अर्जुन होईल हिंपुरी । म्हणोनि सर्वेचि म्हणे किरीटी । परी आन एक असे ॥४५३॥ तरी आतांचि ये संहार बाहरे । तुम्ही पांडव असा बाहिरे । तेथ जातजातां धनुर्धरें सांवरिले प्राण ॥४५४॥” आणि महामरणाच्या भयाने ग्रस्त अर्जुन पुनः सावध होऊ लागला व म्हणाला, “ऐसें म्हणिजत आहे देवे । अर्जुना तुम्ही माझे हे जाणावे । येर जाण मी आघवे । सरलो ग्रासू ॥” . याप्रमाणेच श्लोक ३३ व ३४ मधील “मयैवैते निहताः पूर्वमेव” “मया हतान्” आदि वचनांवर शंकराचार्यांचा दृष्टिकोन स्वीकार करून ज्ञानेश्वर

(१) अर्जुनाच्या मनात शत्रूविषयी भय होते असे म्हणणारे शंकराचार्य ( आपल्या भाष्याच्या आरंभी प्रास्ताविकात ) असेही म्हणतात की, अर्जुन त्या समयी त्याच शत्रूसाठी आप्तममता भावनेने प्रभावित होता, “तथा हि अर्जुनेन... अहमेवांममैते इत्येवं प्रत्ययनिमित्त स्नेहविच्छेदिनिमित्तात्मनः शौकमोहौ प्रदर्शितौ” हे परस्पर विसंगत आहे.



म्हणतात, ...द्रोणाचा पाड न करी। भीष्मांचे भय न धरी। कैसेसि कर्णावीरी। परजू हे न म्हणे ॥४७२॥ कोण उपाय जयद्रथ कीजे। हे न चिंतू चित्त तुझे। आणीकही आधि जे जे। नावाजिगे वीर ॥४७३॥ तेही एक एक आघवे। चित्रींचे सिंहाडे मानावे। जैसे वोलेनि हाते घ्यावे। पुसोनियाँ ॥४७४॥

अशाचप्रकारे गीताप्रेस ( गोरखपूर ) द्वारा प्रकाशित गीतेवरील ‘तत्त्वविवेचनी’ हिन्दी टीकेत श्लोक ११-३२ च्या स्पष्टीकरणात म्हटले आहे, “भगवानने यह दिखलाया है कि गुरु, ताऊ, चाचे, मामे और भाई आदि आत्मीय स्वजनो को युद्धके लिये तैयार होकर तुम्हारे मनसे जो कादस्ता का भाव आ गया है और उसके कारण तुम जो युद्धसे हटना चाहते हो - यह उचित नहीं है... मै स्वयं इनका नाश करने के लिये प्रवृत्त हूँ... अर्जुनको उत्साहित करने के लिये भी भगवान् के द्वारा ऐसा कहा जाना युक्तिसंगत है। भगवान् मातो यह समझा रहे है कि शत्रुपक्षके जितनेभी योद्धा है वे सब एक नरहसे मेरी ही हूए है; उन्हे मारने में तुम्हें कोई परिश्रम नहीं करना पड़ेगा।”

या उद्धृत स्पष्टीकरणांत असा अर्थ केला गेला आहे की, अर्जुनाचे मनात ते युद्ध लढण्याविषयी वैयक्तिक भिन्नेपणाची भावना उत्पन्न झाली होती व श्रीकृष्णानी ती दूर केली. अर्जुनावरील हा आरोप संपूर्ण निराधार आहे. जो अर्जुन कौरवांवर (महापापधारणेने) शस्त्र चालविणे नाकारताना, रणांगण त्यागाचा विचार व्यक्त न करता, अशस्त्र अप्रतिकार अवस्थेत रणभूमीवरच स्वकुलबांधव व गुरुजन आदि शत्रूंकडून स्वतः मारले जाण्याची कल्पनाही व्यक्त करतो (१-४६), त्याच्यावर कायतेचा आरोप पूर्ण विपर्यस्त आहे. अर्जुन ‘पूजार्ह’ भीष्म-द्रोणांवर युद्धात (त्यांनी मारलेल्या बाणांच्या उत्तरात) ‘उलटून’ बाण कसे मारावे (प्रतियोत्स्यामि) अशी त्याच्या हृदयाची चिंता व्यक्त करतो (२-४). त्याने स्वतः कधीही भीष्मद्रोणांवर बाण आरंभ केले नाहीत. गोग्रहण युद्धात त्यांनी त्यांच्यावर बाण चालविणे आरंभ केल्यावर अर्जुनाने त्यांच्या प्रतिकारार्थ त्यांच्यावर बाण चालविले (विराट पर्व ५५-४५, ५८-१९). परंतु आता कुरुक्षेत्रावर तो म्हणतो की, भीष्म-द्रोणांनी माझ्यावर बाण चालविले तरी हे युद्ध आमच्या स्वार्थी राज्यसुखार्थ असल्याने, मी त्यांच्यावर उलटून बाण चालविणेही कसे उचित होईल? या युद्धाला नकार देण्यास अर्जुनाची मूळ चिंता स्वतःच्या सुरक्षिततेसाठी नसून, गहन नैतिकता विषयक समस्या होती.

पुढील श्लोकातील श्रीकृष्णांच्या अर्जुनाला उद्देशून ‘क्लैब्यं’ शब्दानेही अनेकांचा अर्जुनाविषयी घोटाळा झाला आहे.

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।  
शुद्धं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ॥२-३॥

“अर्जुना, नामदासारखे दिसणारे आचरण सोड, हे तुला शोभत नाही; परंतप (अर्जुना) हृदयाचे हे शुद्ध दुबळेपण सोडून (युद्धार्थ) उभा राहा.” काही अनुवादक या श्लोकातील श्रीकृष्णाच्या ‘क्लैब्यं’ शब्दातून असा आशय घेतात की, त्यासमयी श्रीकृष्णासमोर अर्जुन खरोखर ‘क्लीब’ (भित्रा, भयभीत) होऊन त्या युद्धापासून परावृत्त होऊ चाहत होता, आणि श्रीकृष्ण त्याला त्या भिन्नेपणाविरूद्ध बोलत होते. पण श्रीकृष्ण ‘वीरोत्तम’ ‘परंतप’ अर्जुनाला शब्दशः स्वसुरक्षा चिंताग्रस्त ‘क्लीब’ म्हणाले नसते. त्यांच्या त्या शब्दाचा आशय ‘क्लीबासमान दिसणारे बाह्य आचरण (ज्याच्यामुळे तुझे निंदक तुझ्यावर क्लीबत्वाचा (चुकीचा) आरोप करून तुझी अकीर्ती पसरवतील’ २-३४, ३५, ३६) असा आहे. तुझ्या या बाह्य आचरणावरून तुझे निंदक तू भिन्नेपणाने रण सोडले अशी तुझी निंदा करतील असे श्रीकृष्ण म्हणत असता, स्वतः श्रीकृष्णच अर्जुनाविषयी तशी समजूत करून त्याला भिन्नेपणाविरूद्ध धैर्य देत आहेत, असा आशय घेणे विपर्यस्त आहे.

### जीवितांविषयी शोक

श्रीकृष्णाच्या अर्जुनास उपदेशाच्या आरंभीच पुढील श्लोक येतो. अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।

गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥२-११॥

“ज्याविषयी शोक करू नये त्यांचेविषयी तू शोक करीत आहेस आणि (धर्मासंबंधी) शहाणपणाच्या बाता सांगत आहेस. ज्ञानी पुरुष मृतांबद्दल व ज्यांचे जीवन चालू आहे त्यांवर शोक व्यक्त करीत नाहीत.” यात कोणत्या शोकाचा विशेष उल्लेख आहे? मृतांबद्दल शोक नेहमीच होत असतो. पण जिवंतपणावर शोक केव्हा होऊ शकतो? जे आपले घोर शत्रू आहेत त्यांच्या जीवित असण्यावर शोक साहजिक आहे. पण याशिवाय मानव स्वतः भीषण व्याधीने ग्रस्त असता, अथवा जीवनात अत्यंत अनिश्चित विपर्यस्त परिस्थिती प्राप्त झाली असल्यास, तो स्वतःच्या जीवित राहण्यावर शोक करतो (व कधी कधी आत्महत्येसही प्रवृत्त होतो). अर्जुनाचा शोक अशा स्वरूपाचा नसून त्या युद्धात स्वकुल बांधवांच्या वधाचे महत्पाप केल्यास त्यानंतर स्वतः जिवंत राहण्यावर होता. त्याने तो पुढील श्लोकात व्यक्त केला आहे -

... किं नो राज्येन गोविंद किं भोगैर्जीवितेन वा ॥१-३२॥

... यानेव हत्वा न जिजीविषाम -



स्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥२-६॥

“...कृष्णा, ( अशाप्रकारे प्राप्त ) राज्याने, भोगांनी, व जिवंत राहण्यानेही आमचे काय भले होणार ? १-३२... ज्यांना मारल्यानंतर आम्हाला जिवंत राहणेही नकोसे व्हावे तेच हे धार्तराष्ट्र ( युद्धार्थ ) समोर उभे आहेत. २-६.” शंकराचार्य श्लोक २-११ मधील ‘अशोच्यान्’ शब्दाचे स्पष्टीकरण असे देतात. “अशोच्याः भीष्मद्रोणादयः सद्वृत्ताः” ( भीष्म द्रोणादि ‘अशोच्य’ आहेत कारण ते सदाचारी आहेत ). परंतु भीष्मद्रोणांना सद्वृत्त म्हटले, तरी अर्जुनाचा शोक शत्रुपक्षीय सर्व स्वजनांच्या वधाबद्दल होता, आणि दुर्योधनादींना ‘सद्वृत्त’ कसे म्हणता येईल ?

टिळक सुचवितात ( ‘भगवत गीता रहस्य’ पृ. ६१५ ) कीं श्लोक २-११ मधील ‘अनुशोचन्ति’चा अर्थ केवळ शोक करणे असा न करता ‘बरे किंवा वाईट वाटणे’ असा करावा ( म्हणजे ‘बरे’ वाटणेचा संबंध जिवंतपणाकडे व ‘वाईट’ वाटण्याचा संबंध मृतांकडे लावता येईल. ) परंतु ‘अनुशोचन्ति’चा आशय ‘शोक करणे’ निश्चित असून त्यात ‘बरे’ वाटण्याचा समावेश करता येणार नाही.

वस्तुतः अर्जुनाचा शोक त्या स्वजनांच्या व गुरुजनांच्या केवळ मृत्यूसाठी नसून, त्या युद्धात त्याच्या हस्ते त्यांचा वध झाल्यास त्या महापापासाठी, व त्यानंतर त्याने जिवंतपणा चालू ठेवण्यासाठी होता. पण ते स्वजन व गुरुजन यांचा तो वध श्रीकृष्णांच्या अनुसार यासाठी ‘अशोच्य’ होता की, त्यांच्या विरुद्ध ते युद्ध समाजात न्याय रक्षणार्थ परम आवश्यक होते.

\*\*\*

## प्रकरण - ४

### अर्जुनाचा निष्काम मोह

अर्जुनाचा मोह - सकाम की कामाशिवाय ?  
गीतेत कामविकाराचे विवेचन आले असले, तरी अर्जुन मानसाला त्या समयी झालेल्या विकृतीला ‘काम’ म्हटले नसून केवळ ‘मोह’ संबोधित केले आहे. अर्जुनाच्या त्या युद्धास नकाराला श्रीकृष्णांनी आपल्या उपदेशाच्या प्रारंभात द्वितीय अध्यायात त्याच्या बुद्धीचा ‘मोह’ म्हटले आहे -

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।

तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥२-५२॥

( पूर्ण श्लोकाचा अर्थ पुढे दिला आहे ). आणि तत्त्वदर्शी ज्ञानी गुरूकडून ज्ञान प्राप्त करून घे असा अर्जुनाला आदेश देऊन श्रीकृष्ण म्हणाले, यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पांडव ॥४-३५॥

“जे परम ज्ञान प्राप्त झाल्यावर, अर्जुना, तुला असा मोह पुनः होणार नाही.” आणि श्रीकृष्णाच्या या उद्गारांना जुळणारे स्वतः अर्जुनानेही पुढील उद्गार काढले,

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंहितम् ।

यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ॥११-१॥

“माझ्यावर अनुग्रह ( कृपा ) करून तुम्ही अध्यात्मस्वरूप जे हे परम गूढ ज्ञान मला सांगितले, त्या तुमच्या उपदेशाने माझा हा मोह नाहीसा झाला आहे.” गीतेच्या उपसंहारातही अर्जुनाच्या मोहाचा उल्लेख करून श्रीकृष्ण त्याला विचारातात -

कश्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा ।

कश्चिदज्ञानसंमोहः प्रनष्टस्ते धनंजय ॥१८-७२॥

“पार्था, ( आतापवेतो तुला सांगितलेले ) हे ( सारे ) तू एकाग्र चित्ताने



ऐक्येस ना ? अर्जुना, तुझा अज्ञानमोह पूर्णपणे दूर झाला ना ? ” शिष्योत्तम अर्जुन उत्तर देतो.

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।

स्थितोऽस्मि गतसंदेहः करिष्ये वचनं तव ॥१८-७३॥

“ हे कृष्णा ! तुझ्या कृपाप्रसादाने माझा मोह नष्ट होऊन मला ( माझ्या कर्तव्यकर्माची ) स्मृति पुनः प्राप्त झाली आहे. माझ्या मनातील संशय नाहीसा झालेला आहे; व तुझ्या उपदेशाप्रमाणे वागण्यास मी तयार आहे. ”

काम व मोह यात भेद

गीताकार काम व मोह यात विशेष भेद दर्शवितात. ‘ काम ’ चा संबंध रजोगुणाशी, व ‘ मोह ’ चा तमोगुणाशी आहे.

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासंगसमुद्भवम् ।

तन्निबध्नाति कौंतेय कर्मसंगेन देहिनम् ॥१४-७॥

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वं देहिनाम् ।

प्रमादालस्यनिद्राभिस्तिबध्नाति भारत ॥१४-८॥

सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत

ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत ॥१४-९॥

“ रजोगुण आकर्षणयुक्त असून याच्यापासून तृष्णा व आसक्ति उद्भवतात असे जाण; कौंतेया, तो देहधारी जीवाला कर्मविषयक आसक्तीने ( कर्म करण्याच्या इच्छेने ) बांधतो. परंतु तमोगुण अज्ञानापासून उद्भवून सर्व देहधारी जीवांना मोह घालणारा जाण; अर्जुना, हा ( तमोगुण ) प्राण्यास प्रमाद ( अयोग्य कर्माचरण ), आळस व ( अति ) निद्रा यांनी जखडतो - ८. सत्त्वगुण सुखाचे ठायी, रजोगुण ( उचित परंतु सकाम ) कर्माचे ठायी, पण तमोगुण ज्ञानाला झाकून प्रमादाचे ठायी आसक्ति उत्पन्न करतो ” - ९.

लोभः प्रवृत्तिरारंभः कर्मणामशमः स्पृहा

रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ॥१४-१२॥

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च

तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनंदन ॥१४-१३॥

सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च

प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥१४-१७॥

“ अर्जुना, रजोगुण प्रबळ झाल्यावर, लोभ ( उचित ) कर्मासाठी ( सकाम ) प्रवृत्ती, कर्माचरणाची सतत इच्छा, लालसा, ही लक्षणे उत्पन्न होतात - १२, आणि अर्जुना, तमोगुण वृद्धित झाला असता, अप्रकाश ( कर्तव्य

ज्ञान न होणे ), कर्म करण्याच्या प्रवृत्तीचा अभाव, प्रमाद ( अनुचित कर्माचरण ), मोह हे उत्पन्न होतात - १३. सत्त्वगुणापासून ज्ञान उद्भवते, आणि रजोगुणापासून लोभ निर्माण होतो; तमोगुणापासून प्रमाद, मोह व अज्ञान उत्पन्न होतात - १७. ” यातील रजोगुणात्मक तृष्णा व भोगासक्ति अर्जुनाच्या त्या समयीच्या अवस्थेत दिसून येते काय ? परंतु तमोगुणाची चिन्ह त्याचे ठायी बरोबर आढळतात. त्याचे ज्ञान झाकले गेले होते; काय उचित व काय अनुचित हे कळेनासे झाले आहे असे तो स्वतःच म्हणतो ( २-६, ७ ). मोहाचा त्याच्या मनावर स्पष्ट पगडा बसला होता. त्याचे ठायी लोभ प्रभावी नसून, उलट तो लोभाचा विरोध करत होता ( १-४५ ). परंतु त्याच्या मनावर ‘ अप्रकाश ’ पडला होता, या समयी काय करणे उचित आहे हे त्याला समजत नव्हते ( २-६, ७ ).

‘ काम ’चे स्वरूप

कामात दोन प्रकारच्या इच्छा येतात; सुख हवेसे वाटणे व दुःख नकोसे वाटणे.

गीता कर्मफलाविषयी अनासक्ति सांगते तेव्हा तिचा आशय सुखस्वरूपी फलाच्या प्राप्तीविषयी अनासक्ति व दुःखस्वरूपी फलाच्या अप्राप्तीविषयी अनासक्ति असा असतो. काम, आसक्ति, तृष्णा यांचा फक्त सुखेच्छेशी संबंधित असाच अर्थ केला, तर सुखकर कर्तव्यकर्म त्यांच्या सुखप्रद परिणामात आसक्ति न ठेवता कर्तव्य म्हणून करावी, व जी कर्म सुखप्रद असूनही योग्य नसतील ती त्यांच्या सुखप्रद परिणामांविषयी अनासक्त राहून त्यागावी, असा दुहेरी आदेश निघत असला, तरी जी कर्तव्यकर्म कर्त्यास दुःखकारक वाटत असतील त्यांच्या दुःखद फलांविषयी अनिच्छा किंवा उद्धिगता न ठेवता केली जावी हा गीतासंदेशातला तिसरा महत्त्वाचा धागा हस्तगत होत नाही.

गीता मानवाने स्वदुःखाच्या भयाने उचित कर्माच्या त्यागाचा निषेध करते ( १८-८ ); आणि आदेश देते की, व्यक्तीला स्वतःला ‘ अकुशल ’ ( दुःखदायक ) प्रतीत होणारे उचित कर्म त्यागू नये, आणि ( अनुचित ) ‘ कुशल ’ ( सुखप्रद ) कर्मासाठी आसक्ती नसावी ( १८-१० ).

सारांश, कामविकाराची दोन लक्षणे आहेत. स्वसुखासाठी स्पृहा, व स्वदुःखाविषयी उद्धिगता. यांनाच गीतेत राग व द्वेष म्हटले आहे.

मात्रास्पृशस्तु कौंतेय शीतोष्णसुखदुःखदाः

आगमापायिनोऽनित्यास्तांतिक्षस्व भारत ॥२-१४॥



“ अर्जुना, थंडी किंवा उष्णता, सुख किंवा दुःख, यांचे अनुभव करून देणारे इंद्रियांचे विषयस्पर्श आरंभ व अंत असल्याने अनित्य आहेत. अर्जुना त्यांना निर्विकार मनाने सहन कर.”

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ

समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥२-१५॥

“ हे पुरुषश्रेष्ठा, सुखदुःखात समान ( उत्तेजनारहित ) वृत्तीने राहणाऱ्या ज्या विवेकी पुरुषाला हे ( उभय विषयस्पर्श ) क्षुब्ध करत नाहीत ( कर्तव्यापासून विचलित करत नाहीत ) तो अमृतत्वाला ( मोक्षाला ) पात्र होतो.”

गीता पारलौकिक स्वर्गसुखाच्या इच्छेलाही ‘ कामा ’त समाविष्ट करते. ‘ स्वर्गपर ’ व्यक्तींना श्रीकृष्ण ‘ कामात्मानः ’ ( २-४३ ) व ‘ कामकामाः ’ म्हणतात -

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा

यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते ।

ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक-

मश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान् ॥९-२०॥

ते तं भुत्वा स्वर्गलोकं विशालं

क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।

एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना

गतागतं कामकामा लभन्ते ॥२१॥

“ ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद या तीन वेदांचे अनुयायी सोमरसपान करून, पापरहित होऊन, यज्ञांनी माझे पूजन करून स्वर्गतीची प्रार्थना करतात, आणि तदनुसार ते पुण्यवानांच्या देवेन्द्रलोकात जाऊन देवांना देवलोकात प्राप्त होणारे दिव्य भोग भोगतात - २०. ते त्या विशाल स्वर्गलोकाचा उपभोग घेऊन, पुण्यसंचय संपल्यावर ( पुनः ) मृत्युलोकी येतात ( जन्म पावतात ); अशाप्रकारे वेदत्रयीत दिलेल्या मार्गाने जाणारे ते कामभोगेच्छू वारंवार आवामगन ( जन्म मरण ) अवस्थेला प्राप्त होत असतात ” - २१. ( पाहा मुण्डक “ नरकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वा । इमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति ” १-२-१० ).

‘ काम ’ स्वरूप नसणाऱ्या इच्छा

स्वर्गाची इच्छा ‘ काम ’ आहे, पण मोक्ष व ( परम ) ‘ श्रेय ’ची इच्छा काम नाही. सुखासाठी मानवाने उदासीन असावे, पण मोक्षाच्या ‘ अक्षय ’ ( ५-३१ ), ‘ आत्यंतिक सुखाची ’ ( ६-२१ ), परमानंदाची

५० \* गीता तत्त्व दर्शन

इच्छा अवश्य करावी.

अशाच प्रकारे नरक दुःखाविषयी उद्दिष्टता ‘ काम ’ विकारात येत नाही. जे कर्म वस्तुतः नरकात नेणारे असेल ते त्यागणे अनुचित नाही. नरकाविषयी निषेध व्यक्त करीत श्रीकृष्ण म्हणतात -

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः

कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत् त्रयं त्यजेत् ॥१६-२१॥

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः ।

आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥२२॥

“ काम, क्रोध व लोभ ही त्रयी नरकाचे दार असून त्यात प्रवेश करणारा स्वतःचा नाश करून घेतो, यासाठी या तिघांचा त्याग करावा - २१. अर्जुना, अंधःकार ( स्वरूप नरका ) मध्ये घेऊन जाणाऱ्या या तीन द्वारांपासून मुक्त राहून ( जो ) आपल्या श्रेयाच्या दिशेने आचरण करतो तो परम गति प्राप्त करतो ” - २२.

‘ मोह ’ चा उद्भव

श्लोक १४-१३ मध्ये तमोगुणाचे चार परिणाम सांगितले आहेत - अप्रकाश, अप्रवृत्ती, प्रमाद व मोह. अप्रकाश व अप्रवृत्ती हे दोन नकारात्मक असून, यात कर्तव्यकर्माचा त्याग केला जातो. परंतु ‘ प्रमाद ’ मध्ये प्रत्यक्ष दुष्कर्म करण्याची इच्छा होते. मोहाचा उद्भव पुढील श्लोकांत तपशीलवार सांगितला आहे.

ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते

संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥२-६२॥

क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः

स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥२-६३॥

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा

कामरूपेण कौंतेय दुष्परेणानलेन च ॥३-३९॥

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते

एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥३-४०॥

“ विषयाचे चिंतन करणाऱ्याला त्याबद्दल आसक्ति उत्पन्न होते, आसक्ती-पासून काम उत्पन्न होतो, कामापासून क्रोधाची उत्पत्ति होते - ६२. क्रोधापासून संमोह संभवतो; संमोहापासून विस्मरण आणि विस्मरणामुळे विवेकबुद्धीचा नाश होतो; ( शेवटी ) बुद्धिनाशामुळे व्यक्तीचा पूर्ण विनाश ( अधःपात ) होतो - ६३. अर्जुना, ज्ञानीचा नित्यवैरी, कधीही तृप्त न होणारा

गीता तत्त्व दर्शन \* ५१



जणू अग्नी, अशा या 'काम' ने ज्ञान झाकून टाकले जाते ३-३९. इन्द्रिये, मन, बुद्धि ही याची आश्रयस्थाने ( प्रभावित करण्याची स्थाने ) होत; ज्ञानावर आवरण टाकून यांच्या द्वारा हा ( काम ) मानवाला मोहग्रस्त करतो - ४०. ”

मोह 'काम' विनाही होऊ शकतो

परंतु वरील श्लोकात 'मोह'चा 'काम' मुळे उत्पन्न होणारा सर्वसामान्य प्रकार गीतेने सांगितला असून, 'मोह' केवळ 'काम' पासूनच उद्भवतो असे नाही. 'काम' शिवायही 'मोह' संभव असून, पुढे दाखविल्याप्रमाणे अर्जुनाचा 'मोह' त्याच प्रकारचा होता. 'मोह' बौद्धिक भ्रम असून तो 'काम' मुळे, अथवा 'काम' विना केवळ वैचारिक भ्रंशंतीमुळे होऊ शकतो.

याप्रमाणे मोहाचे दोन टोकळ भेद पडतात.

एक प्रकार - केवळ कर्तव्यत्यागस्वरूप, ज्यात व्यक्ति आपले कर्तव्य त्यागतो पण त्याऐवजी काही विशिष्ट अनुचित कर्मही करित नाही; दुसरा प्रकार - ज्यात प्रत्यक्ष अकार्य कर्माचा स्वीकारही होतो. या उभय प्रकारात पोटभेद आहेत. हे प्रकारभेद पुढीलप्रमाणे मांडता येतील.

१) कार्यकर्मत्याग - अ) बौद्धिक अज्ञान अथवा भ्रम यामुळे. आ) निद्रा, आलस्य यामुळे. इ) स्वदुःखाच्या कारणाने.

२) अकार्यकर्मस्वीकार - अ) बौद्धिक अज्ञान अथवा भ्रमामुळे आ) कामामुळे.

अर्जुनास झालेला मोह

अर्जुनाचा मोह प्रथम ( १-अ ) प्रकारचा होता; बौद्धिक भ्रमामुळे कर्तव्यकर्माच्या त्यागस्वरूप होता. अशा मोहात व्यक्ती वैचारिक घोटाळ्यामुळे एखाद्या कर्तव्यकर्माला अकार्य कर्म समजून कर्तव्यपालन स्थगित करतो, पण त्याऐवजी अन्य अनुचित कर्मही करत नाही. हा निष्काम मोहाचा नकारात्मक प्रकार आहे. अर्जुन कामविकाराने ग्रस्त होऊन त्या

( १ ) 'ज्ञानिनः नित्यवैरिणा' या वरील शंकराचार्याचे भाष्य मार्मिक आहे. ज्ञानी मनुष्य कामाचे दुष्ट स्वरूप प्रथमपासूनच ओळखतो; परंतु अज्ञानी प्रथम त्याच्या भजनी लागतो, व नंतर ( त्याच्या अनंत अतृप्तित्वामुळे ) दुःख होऊ लागले म्हणजे तो त्याला शत्रू लेखतो.

५२ \* गीता तत्त्व दर्शन

युद्धाला विरोध करत होता असे नव्हे. परंतु समोर युद्धार्थ उभे धार्तराष्ट्र दुष्ट व आततायी आहेत, हे त्यास माहीत होते तरी ते माझे कुलबांधव असल्याने 'पापमेवाश्रयेदस्मान्हेतवानाततायिनः' ( १-३६ ) असा त्याच्या मनाला मोह होऊन तो ते युद्ध टाळू चाहत होता !

अर्जुनाच्या मोहाचा उल्लेख करून श्रीकृष्ण म्हणतात - यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतिरिष्यति

तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यास्य श्रुतस्य च ॥ २-५२ ॥

“जेव्हा तुझी बुद्धि ( या ) मोहाच्या गढूळ आवरणातून बाहेर पडेल तेव्हा शास्त्रादींचे जे श्रवण केलेले व करावयाचे असेल त्या ( सर्वा ) बद्दल तुला अनास्था होईल. ” अर्जुनाच्या बुद्धीच्या या 'मोहकलिलं' चे स्वरूप काय होते ? शंकराचार्य लिहितात, “येन विषयं प्रति अंतःकरणं प्रव्रते ” ( ज्याच्यामुळे अंतःकरण विषयांकडे प्रवृत्त होते ). परंतु त्या युद्धाला अर्जुनाच्या नकाराच्या मुळात विषय सुखाची कोणती इच्छा होती ? तो तर त्रैलोक्याचे राज्यसुखही नाकारण्याचा विचार व्यक्त करत होता.

त्या 'मोहकलिलं'चा संबंध 'काम' वासनेशी लावणारे भाष्यकार साहजिकच श्लोकाच्या द्वितीय पंक्तीतील 'निर्वेदं गन्तासि' शब्दात भोगासाठी वैराग्याची कल्पना पाहतात. उदा. जयदयाल गोचंदका ( 'तत्त्वविवेचनी हिंदी टीका' ) या श्लोकाचा हा अर्थ देतात, “जिस काल में तेरी बुद्धि मोहरूप दलदल को भलीभाँति पार कर जायगी, उस समय तू सुने हुए और सुनने आनेवाले इस लोक और परलोकसंबंधी सभी भोगोंसे वैराग्य को प्राप्त ही जायगा. ” परंतु अर्जुनाच्या त्या समयीच्या मनःस्थितीला उद्देशून श्रीकृष्णाचे हे वचन आहे हे ध्यानात घेतले, म्हणजे या 'निर्वेद'चा संबंध प्रत्यक्षपणे ऐहिक अथवा पारलौकिक सुखभोगाशी नसून, अर्जुनाने पाप व श्रेय संबंधी जे ऐकले होते ( 'इति अनुशुश्रुम' १-४४ ) त्याच्याशी आहे हे स्पष्ट होईल.

तो मोह भोगवृत्तिजन्य-कामजन्य - नव्हता, व म्हणून तन्निरसनाने भोगविरक्तीचे फल अर्जुनाच्या पदरी पडणार नव्हते. या श्लोकावरील शांकरभाष्यांतही 'वैराग्य' शब्द आलेला आहे; परंतु तो 'निर्वेद' या मूळ पदाच्या स्पष्टीकरणार्थ असून, मोहनिरसनानंतर 'जे ऐकावयाचे व जे ऐकले यांच्याविषयी तुला वैराग्य म्हणजे पूर्ण अनिच्छा वाटू लागेल.' असा आचार्यांनी श्लोकाच्या उत्तरार्धाचा अर्थ दिला आहे. हाच विषय चालवत श्रीकृष्ण म्हणाले,

गीता तत्त्व दर्शन \* ५३



श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला

समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥२-५३॥

“ अनेक प्रकारच्या ऐकलेल्या वचनांमुळे विचलित झालेली तुझी बुद्धि जेव्हा ( सत्य ज्ञानाचे ठायी ) निश्चल ( संशय रहित ) होईल व सर्वत्र समत्वभावाच्या व्यवस्थेत स्थिर होईल, तेव्हा तुला ( परम ) योगस्थिती प्राप्त होईल. ” याच्या प्रथम ओळीत अर्जुनाच्या मोहाविषयी जे श्लोक ५२ मध्ये म्हटले आहे तेच पुनः सांगितले आहे. नैतिक-अनैतिक विषयासंबंधी अर्जुनाने श्रवण केलेल्या प्रचलित वचनांनी भ्रमित होऊन त्याला ते धर्मयुद्ध पापरूप व श्रेयविरोधी वाटू लागले; त्यामुळे विचलित झालेली त्याची बुद्धी वास्तविक ज्ञान ग्रहण करून, त्याच्या त्या समयीच्या युद्ध कर्तव्याबद्दल संशयरहित निश्चल होणे आवश्यक होते.

श्लोक ५२ मध्ये अर्जुनाच्या ‘ मोहकलिलं ’ चा संबंध भोगेच्छेशी लावणारे या श्लोकात ‘ श्रुति ’ चा अर्थ ऐहिक व पारलौकिक भोगांचे वर्णन करणारी शास्त्रवचने असा करतात. टिळक व काही अन्य या ‘ श्रुति ’ चा अर्थ ‘ वेद ’ करून ‘ श्रुति विप्रतिपन्ना बुद्धि ’ चा आशय गीता श्लोक २-४२, ४३, ४४ व ९-२०, २१ मध्ये उल्लेखित भोगैश्वर्यप्रेरक ‘ वेदवचनांनी विचलित झालेली तुझी बुद्धि ’ असा करतात. पण तशा कामप्रेरक वेदवचनांनी अर्जुनाची बुद्धी त्यासमयी विचलित झालेली असती, तर देवलोकांचे साम्राज्य प्राप्त होणार असले तरी मी हे युद्ध करू चाहत नाही असे तो म्हणाला नसता ( १-३५. २-८ ). ऐहिक वा पारलौकिक कोणत्याच सुखभोगाविषयी आसक्तीने अर्जुन या समयी विचलित झाला नव्हता. त्याला ‘ निःश्रेयस ’ म्हणजे वास्तविक आध्यात्मिक कल्याणाची चिंता होती. या युद्धाचे एकंदर परिणाम पाहता हे केल्यास आम्ही नरकात जाऊ अशी त्याची धारणा त्याने श्रवण केल्या अनुसार झाली होती. सामान्य परिभाषेत अनेक प्रसंगी स्वर्गाचा अभाव म्हणजे नरक व नरकाचा अभाव म्हणजे स्वर्ग असे मानण्यात येत असल्याने, अर्जुनाची नरकाबद्दलची अनिच्छा म्हणजे पर्यायाने स्वर्गसुखाची इच्छा होय असा अर्थ अनेक भाष्यकार करतात. परंतु हा समज बरोबर नाही. अर्जुन नरकाविषयी घृणा व्यक्त करत असता त्याबरोबरच ‘ श्रेय ’ विरोधी स्वर्गसुखही अमान्य करण्यास तयार होता. श्रीकृष्णांनीही अर्जुनाच्या नरकभयाला अनुचित न मानता, या युद्धामुळे पांडव नरकात जातील या अर्जुनाच्या धारणेचे निराकरण केले. त्याची ‘ श्रुतिविप्रतिपन्ना ’ श्रीकृष्णाने

दूर केली ती ही. (१)

अर्जुनाची ती विशिष्ट चुकीची धारणा दूर करण्याशिवाय, श्रीकृष्णानी त्याच्या शाश्वत कल्याणार्थ केवळ स्वर्गसुखाचा नव्हे ( जरी अर्जुन ते चाहता तर त्याला तेही प्राप्त झाले असते २-३२, ३७ ) तर सर्वोच्च ‘ योग ’ द्वारा अंतिम मोक्षप्राप्तीचा मार्ग दाखवला. श्लोक २-५३ च्या प्रथम पंक्तीत अर्जुनाची मोहग्रस्त बुद्धी यथार्थ ज्ञानात ‘ निश्चला ’ ( संशयरहित ) करण्याचा आदेश आहे, आणि द्वितीय पंक्तीत बुद्धी आंतरिक मानसिक निष्काम व निरहंकारितासह पूर्ण ‘ समत्व ’ अवस्थेत ‘ अचला ’ करण्याचा उपदेश आहे. यावर अर्जुनाने अशा ‘ स्थितप्रज्ञ ’ व्यक्तीविषयी मारिहिती विचारली ( २-५४ ). उत्तरात श्रीकृष्णानी स्थितप्रज्ञ अवस्थेचे वर्णन केले. बुद्धी सत्य ज्ञानात ‘ निश्चला ’, व समत्ववृत्तीत ‘ अचला ’ होण्याने गीतोक्त परम ‘ योग ’ अवस्था प्राप्त होते.

अर्जुनाच्या मोहात कामक्रोध पाहण्याचा चुकीचा आग्रह! गीतारंभसमयी अर्जुनमानसांत काम-क्रोध-मोह या क्रमाची वृत्ती नव्हती. जो अर्जुन त्रैलोक्याच्या राज्यास्तवही त्या स्वजन युद्धाचे ‘ महापाप ’ करू चाहत नव्हता ( १-३५ ) त्याच्या बुद्धीत त्या समयी कामवासनेच्या प्रभावाऐवजी त्या वासनेवर नियंत्रण पाहिले पाहिजे. आततायी दुष्ट दुर्योधनादींना राणभूमीवर उचित दंड देण्याऐवजी जो ( चुकीच्या पाप कल्पनेमुळे दंड होईना ) त्यांच्या हातून मारले जाणे देखील बरे असे म्हणतो, त्याच्या मनात त्यावेळी क्रोध नव्हे तर क्रोधावर नियंत्रण पाहिले पाहिजे.

(१) शंकराचार्यानी ‘ श्रुतिविप्रतिपन्ना ’ चा अर्थ पुढील काहीशा संक्षिप्त पण सुंदर शब्दात व्यक्त केला आहे. “ अनेकसाध्यसाधनसंबन्ध-प्रकाशनश्रुतिभिः श्रवणैर्विप्रतिपन्ना नानाप्रतिपन्ना श्रुतिविप्रतिपन्ना विक्षिप्ता. ” यात भोग किंवा काम यावरच स्पष्ट रोख नसून, मोक्ष व नरक यांशी या प्राप्त युद्धाचा व युद्धत्यागाचा साध्यसाधन संबन्ध ( भलत्याच प्रकारे ) सांगणाऱ्या वचनांनी बाबुरलेली बुद्धि असाही आशय संभाव्य आहे ! रामानुजाचार्यानी “ श्रुतिविप्रतिपन्ना ’ चा अर्थ अगदीच वेगळा, ‘ विशेष पात्र झालेली ’ असा सदगुणदर्शक केला आहे; व ‘ श्रुति ’ चा अर्थ ते “ माझ्या ( कृष्णाच्या ) या उपदेशाचे श्रवण ” असा करितात ! संदर्भाशी हा अर्थ पूर्ण विसंगत आहे !



परंतु मोह केवल काम-क्रोध मार्गनिच संभव आहे या भ्रामक धारणेने विनोबा भावे दुसऱ्या अध्यायातील -

ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते

संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥२-६२॥

क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः

स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥२-६३॥

या श्लोकांची चर्चा करताना म्हणतात. ( 'स्थितप्रज्ञदर्शन' पृ. ७९-८७ ). " ... या कामातून पुढे, गीता म्हणते, क्रोध उत्पन्न होतो. 'कामात् क्रोधोऽभिजायते.' येथे खरी अडचण वाटते. विचाराकांचा या ठिकाणी फजिता झालेला दिसतो. कामातून क्रोध कसा उत्पन्न होतो, हा प्रश्न बिकट झाला आहे... शंकराचार्यांनी भाष्यात "कामात्कुतश्चित्प्रतिहतात् क्रोधः अभिजायते" अशी तोड काढली आहे. काम प्रतिहत झाला म्हणजे त्यातून क्रोध उत्पन्न होतो, असे त्यांचे म्हणणे. पण तो प्रतिहत होऊ न देण्याची युक्ति साधली म्हणजे मग कामातून क्रोध उत्पन्न होणार नाही. म्हणजे कामातून क्रोध उत्पन्न होतो हे वाक्य नेहमीकरता खरे ठरत नाही... येथील 'क्रोध' शब्द विशेष अर्थाचा आहे, हे ओळखण्याची गरज आहे. विषयांचा ध्यास लागला, की संग उत्पन्न होतो, 'संग' म्हणजे विषय साकारणे. नंतर तो कान्त, कमनीय म्हणजे हवासा वाटतो. हा काम. यातून क्रोध अवश्यभावी म्हटला आहे केव्हा केव्हा उत्पन्न होतो, असे नाही म्हटले. म्हणून येथील क्रोध शब्द सामान्य अर्थाचा नाही. क्रोध म्हणजे संताप, चीड असा नेहमीचा स्थूल अर्थ येथे नसून चित्ताचे चलन अथवा क्षोभ असा अर्थ आहे. 'क्रुध' धातूचा मूल अर्थ तौलनिक भाषा शास्त्राप्रमाणे क्षोभ, खळबळ असाच आहे... काम उत्पन्न होताच मनाची स्वस्थता ढळते. मनात अप्रसन्नता उत्पन्न होते. काम पुरा होवो अथवा न होवो, तो उत्पन्न होता च चित्ताची समता नाहीशी होते... मनाची चलबिचल होते, अशांति, तळमळ वाटू लागते, क्षोभ होतो. हाच येथे क्रोध म्हणावयाचा. कामनेने चित्ताचे जे स्पंदन होते ते येथे क्रोध शब्दाने लक्ष्य आहे... 'क्रोधाने मनाला मूढता येते.' 'क्रोधात् भवति संमोहः'.

क्रोध शब्दाचा मुद्दाम केवळ सर्वसाधारण मनःक्षोभ असा अतिव्याप्तिपूर्ण अर्थ करण्याचा हा अट्टाहास भावे यांनी का केला आहे? कामापासून क्रोध व क्रोधापासून मोह हा एकच मार्ग त्यांच्या दृष्टीसमोर आहे, व या एकाच साच्यात त्यांना अर्जुनाचा मोह बसवावयाचा आहे. अर्थातच त्यासाठी अर्जुनाच्या ठायी प्रथम काम शोधला पाहिजे व नंतर

कसेही करून क्रोधही कल्पिलाच पाहिजे ! कामाची वासलात श्री. भावे अर्जुनमानासाठी ल कौरवांविषयी तथाकथित आत्ममतेकडे बोट दाखवून लावीत आहेत ! ( त्याचे खंडन पुढे केले आहे ) राहिला क्रोध, त्यासाठी ही ओढाताण ! परंतु ही ओढाताण येथवरच थांबली नाही. अर्जुनाला शोक-विषाद झाला होता असेही गीतेत स्पष्टच म्हटले आहे. या विषादाला काम-क्रोध-मोह या साखळीत कोठे बसवावयाचे ? यासाठी अखेरीस क्रोध-म्हणजेच विषाद असे म्हणण्याइतपत पाळी आली ! " अर्जुनाला कर्तव्या कर्तव्याविषयी मोह झाला होता, असे दिसून येते... हा मोह अर्जुनाला कोणत्या कारणामुळे झाला होता ? युद्धात सारी आपलीच माणसे मारावी लागणार, या विचाराने त्याचे मन कावरे-बावरे झाले. त्याच्या चित्ताची व्यवस्थिति, रचलेपणा नाहीसा झाला. मनाची चलबिचल झाली. अर्जुनाला मोह झाला खरा, पण त्याला स्थूल अर्थाने क्रोध आलेला नव्हता. तो काही रगावला किंवा संतापला नव्हता. हे माझे च लोक माझ्याशी लढायला उभे राहिले आहेत, याचा त्याला विषाद वाटला आणि त्यातून च त्याचा कर्तव्य-मोह उत्पन्न झाला. पण गीता म्हणते, क्रोधातून मोह उत्पन्न होत असतो. अर्थात विषाद आणि क्रोध हे गीतेच्या दृष्टीने पर्यायच दिसतात. हा विषाद शब्द लक्षात घेण्यासारखा आहे. प्रसन्नतासूचक जो तीन अक्षरी 'प्र-सा-द' शब्द त्याच्या अगदी उलट अर्थाचा हा तीन अक्षरी 'वि-षा-द' शब्द आहे. आणि क्रोधाचे हि स्वरूप असे च प्रसन्नता-विरोधी आपण पाहिले आहे. या अर्थाने क्रोध आणि विषाद हे दोन्ही शब्द क्षोभसूचक ठरतात. या अशा क्षोभातून अर्जुनाला कर्तव्याकर्तव्याविषयी मोह उत्पन्न झाला आणि देवाच्या कृपेने गीताश्रवणाचे भाग्य लाभून तो मोह नष्ट झाला, असे अर्जुन म्हणतो. " ( सदर पृ. ९६-९८ )

गीताकारांच्या मते कामक्रोधजन्य हा एकच मोहाचा प्रकार नसून अन्य प्रकारही त्यांना मान्य आहेत हे पाहिले म्हणजे अर्जुनाच्या मोहाला जबरदस्तीने त्याच एका साच्यात बसविण्याच्या प्रयत्नांची आवश्यकता उरत नाही. परंतु हा विचार बाजूस सारला तरी अर्जुनाच्या ठायी काम व क्रोध होते तरी कोठे ? अर्जुनाला "स्थूल अर्थाने क्रोध आलेला नव्हता. तो काही रगावला किंवा संतापला नव्हता " हे भावे स्वतःच मान्य करीत आहेत. पण तरी कसेही करून अर्जुनावर क्रोधाचा आरोप करण्यासाठीच क्रोध शब्दाची उपरोक्त ओढाताण. क्रोधात क्षुब्धता असेल पण म्हणून क्रोध म्हणजेच क्षुब्धता असा आग्रह सुसंगत कसा ठरेल ?

पण याच्याही पुढे जाऊन अर्जुनाला झालेला विषाद म्हणजेच क्रोध



असे श्री. भावे म्हणतात. वस्तुतः क्रोध व विषाद या भावना भिन्न आहेत. गीताकारांनी स्वतःच त्या दोघांत भेद सांगून दिला आहे. क्रोध हा रजोगुणसमुद्भव आहे ( श्लोक ३-३७ ), तर विषाद हा तमोगुणाचा प्रकार आहे ( श्लोक १८-२८ व ३५ ). याशिवाय लोभाला रजामध्ये तर भय व मद यांना तमात गणले आहे.

शेवटी, कामातून क्रोधोत्पत्ति अवश्यंभावी आहे हे विनोबांचे प्रतिपादनही उचित नाही. काम प्रतिहत झाला, त्याला अडथळा आला, तर तो क्रोध उत्पन्न करीतो, हे शंकराचार्यांचे म्हणणे रास्त आहे. काम प्रतिहत झाला तरच क्रोधास प्रसवतो, एरव्ही नाही, असे म्हटल्याने “ कामात्क्रोधोऽभिजायते ” या विधानाला बाधा येते ही समजूत अयथार्थ आहे. कामाच्या पोटी क्रोधबीज आहे खरे, परंतु त्याच्या अभिव्यक्तीला काही एका विशिष्ट परिस्थितीची अपेक्षा असते असे मान्य केल्याने कामापासून क्रोध उद्भवतो या सर्वसाधारण विधानावर आपत्ति घेण्याचे वास्तविक कारण नाही. गारगोटीत अग्नि असला, किंवा तिळांत तेल असले, तरी त्यांच्या अभिव्यक्तीला घर्षणाक्रियेची आवश्यकता असतेच. पण म्हणून गारगोटीपासून अग्नि निघतो, व तिळापासून तेल निघते हे म्हणणे चूक ठरत नाही.

या संदर्भात पुढील श्लोकही पाहा. तिसऱ्या अध्यायाचे शेवटी अर्जुन प्रश्न करतो -

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पुरुषः

अनिच्छन्नपि वाष्ण्य बलादिव नियोजितः ॥३-३६॥

“ कृष्णा, ( स्वतःची ) इच्छा नसताही जणू कोणी जबरदस्तीने ढकलल्याप्रमाणे मनुष्य कशाच्या प्रेरणेने पाप करीतो ? ” आणि यावर श्रीकृष्णाचे उत्तर असे प्रारंभ होते -

श्रीभगवानुवाच

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।

महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥३७॥

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च ।

यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥३८॥

“ रजोगुणापासून उत्पन्न हा महाभक्षक ( संतुष्ट न होणारा ) महापापरूप ‘काम’ आणि ( बाधित झाल्यावर रूपांतरात व्यक्त होणारा तोच ) हा क्रोध, याना तू सांसारिक जीवनातला ( मानवाला साधारणतः इच्छा नसताही पापास प्रवृत्त करणारा ) वैरी जाण - ३७. ज्याप्रमाणे अग्नि धुनेने,

आरसा मळाने, आणि ज्याप्रमाणे गर्भ वाराने आवरणयुक्त होऊन जातो, त्याप्रमाणे यावर ( मनुष्याच्या मनावर ) त्याचे आवरण होऊन जाते - ३८. ”

श्लोक ३७ च्या प्रथम पंक्तीत ‘काम’ व क्रोध यांचा वेगवेगळा उल्लेख आहे; पण नंतर त्या दोघांसाठी द्विवचनाचा प्रयोग न करता एकवचनी रूप दिले असून, ते अध्यायाच्या समाप्तीपावेतो कायम ठेवले आहे. हे श्लोक मनुष्य ‘बलात् इव’, ‘अनिच्छन् अपि’ दुष्कर्म का करतो या प्रश्नाच्या उत्तरात आहेत.

गीतोपदेशांत निष्कामतेला स्थान

अर्जुनाच्या मोहाचा उगम जर कामात नव्हता तर गीतेत निष्कामतेची शिकवणूक का आढळते ? दुसऱ्या अध्यायाचे शेवटी स्थितप्रज्ञतेच्या-समत्वबुद्धीच्या-वर्णनात तर ती आहेच; पण त्या शिवाय अन्यत्रही कामविकार जिंकण्याचा उपदेश केला आहे.

तस्मात्त्वमिंद्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ

पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥३-४१॥

“ म्हणून अर्जुना, ( घोर पापाचरणापासून वाचावयाचे असेल तर ) तू प्रथम इंद्रियनियमन करून, ज्ञानविज्ञानाचा नाश करणाऱ्या या पापरूप ‘काम’ विकाराला नष्ट कर. ”

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः

मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥४२॥

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना

जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥३-४३॥

“ ( अनुभवी ज्ञानियानी ) म्हटले आहे की, ( बाह्य पदार्थापेक्षा ) इन्द्रिये सूक्ष्म, इन्द्रियापेक्षा मन सूक्ष्म; आणि मनापेक्षा ( तार्किक ) बुद्धी सूक्ष्म आहे, परंतु जो ( त्या ) बुद्धीपेक्षा ( ही ) पलीकडे आहे तो ( आत्मा ) आहे (१) - ४२.

अर्जुना, याप्रकारे तार्किक बुद्धीच्याहि पलीकडे असलेल्या ( शुद्ध आत्मतत्त्वा ) ला ओळखून, व स्वतःवर नियंत्रण ठेवून, दुर्दम अशा या कामरूपी शत्रूला तू नष्ट कर - ४३. ”

(१) कठ उपनिषदात म्हटले आहे, “ इन्द्रियेभ्यः पराह्यर्थो अर्थेभ्यश्च परं मनः । मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः १-३-१० ”



अर्जुनाचा मोह निष्काम होता तर हा असा आदेश त्याला कशाला दिला ?

निष्कामता गीतेचा एकमेव प्रमुख संदेश नाही, पण निष्कामतेला गीतोपदेशात उचित स्थान आहे. श्रीकृष्णाचा प्रथम उद्देश अर्जुनाला त्या न्याय्य युद्धासाठी प्रवृत्त करणे हा होता; अर्जुन ते युद्ध सकाम वृत्तीने करे पण त्याचा त्याग न करे म्हणून श्रीकृष्णानी अर्जुनासमोर सामान्य मानवाचा सकाम हेतूही ठेवला, आणि तो उभय प्रकारे - नकारात्मक रूपांत ( अकीर्ती, जननिंदा, टाळावी या हेतूने ) आणि सकारात्मक प्रकारे ( पृथ्वीवर राज्य अथवा पारलौकिक स्वर्गसुख प्राप्त व्हावे या उद्देशाने ) -

यदुच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम् ।

सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ॥२-३२॥

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि

ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥३३॥

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्

संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥३४॥

भयाद्राणुदुरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः

येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥३५॥

अवाच्यवादांश्च बहून्वदित्वान्ति तवाहिताः

निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ॥३६॥

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्

तस्मादुत्तिष्ठ काँतेय युद्धाय कृतिनिश्चयः ॥३७॥

“ अर्जुना, दैवयोगाने तुला हे ( न्याय्य युद्ध म्हणजे जणू ) स्वर्गद्वार उपलब्ध झाले आहे; भाग्यवान क्षत्रियांना असे ( न्याय्य ) युद्ध प्राप्त होत असते - ३२. जर तू हे धर्म्य (न्याय्य) युद्ध करणार नाहीस तर स्वधर्म ( स्वकर्तव्य ) व कीर्ती यांना पारखा होऊन पाप प्राप्त करशील - ३३. लोक तुझी सदैव दुष्कीर्ति करत राहतील; आणि संभाविताला अपकीर्ति मृत्यूपेक्षाही जास्त ( दुःखदायक ) असते - ३४. तू भीतीमुळे रणातून परतलास असे वीरलोक मानतील, आणि आजपावेतो जे तुला मान देत आले त्यांच्या दृष्टीत तुझी प्रतिष्ठा कमी होईल - ३५. तुझे शत्रू तुझ्या सामर्थ्याची हेटाळणी करीत ( तुजविषयी ) बोलू नये असे पुष्कळ बडबडतील. याहून अधिक दुःखकर काय असू शकेल ? - ३६. ( या धर्मयुद्धात लढता लढता ) मारला जाशील तर स्वर्ग प्राप्त होईल, व जिंकशील तर पृथ्वीचा उपभोग घेशील; यासाठी हे अर्जुना, लढण्याचा निश्चय करून ऊठ - ३७. ”

श्रीकृष्ण वैयक्तिक निंदा स्तुतीसाठी ( १२-१८, १४-२४ ), व सुखदुःखासाठी, उदासीनतेचा उपदेशही देतात. पण ती उचित कार्य कर्म करताना ठेवण्याची आदर्श अवस्था आहे. ती पूर्णपणे आत्मसात होई पावेतो उचित कर्तव्यकर्म करताना जननिंदास्तुती व प्राप्त सुखदुःख यांचा विचार करणे इष्ट असते.

पण तरीही आपला उपदेश कर्तव्य सकामतेने करण्याला मान्यता देऊन पूर्ण न करता, श्रीकृष्ण आदर्श निष्काम वृत्तीकडे वळून म्हणाले,

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ

ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥२-३८॥

“ सुखदुःख, लाभहानि, जयापजय यांच्याविषयी समान निर्विकार वृत्ती ठेवून हे ( न्याय्य ) युद्ध कर. तुला असे केल्याने पाप लागणार नाही. ”

आणि यानंतर श्रीकृष्णांनी या आदर्श साम्यवृत्तीचे विस्ताराने प्रतिपादन केले.

अर्जुन त्याची एखादी कामवासना संतुष्ट करण्यासाठी त्या युद्धास नकार देत होता असे नाही. उलट, पांडव ते स्वजनविरोधी युद्ध आपल्या राज्यभोगाच्या प्राप्तीसाठी करत होते या धारणेचे शल्य त्याच्या मनाला असह्य झाले होते ( १-४५ ). आमची कामासक्ती आम्हाला कोठ पावेतो घेऊन आली आहे या विचाराने त्याला घृणा आली.

तत्समयी उत्पन्न ती ' काम ' विरोधी निष्काम वृत्ती मूलतः वाईट नव्हती. परंतु त्या युद्धाच्या मूळ स्वरूपाविषयी अर्जुनाची धारणा सदीप होती, आणि वस्तुतः समाजात सत्य व न्यायाच्या प्रस्थापनेसाठी असणाऱ्या त्या युद्धाला तो नकार देऊ लागला होता.

अशाप्रकारे अर्जुनाचा मोह ' काम ' प्रेरित नसून बुद्धीचा भ्रम होता. तसे तर त्याने यापूर्वी अज्ञातवास समप्तीसमयी विराटनगरी गोग्रहण युद्धात याच स्वजनांवर शस्त्र चालविले होते. परंतु त्यात त्याने त्यांचा वध न करता केवळ जखमी करून विराटाच्या गायी सोडवल्या होत्या. या विपरीत कुरुक्षेत्र युद्ध प्राणांतिक होते व या युद्धात अर्जुनद्वारा स्वजनवध अपरिहार्य होता. याशिवाय गोग्रहण युद्ध त्याने विराटातर्फे केले होते, परंतु वर्तमान युद्ध अर्जुनाच्या दृष्टीने स्वतः पांडवांच्या राज्यसुखार्थ होते; त्या उद्देशाचा उल्लेख करताच तो त्या युद्धाला महापाप म्हणू लागला ( १-४५ ).

त्या युद्धाचे मूळ प्रयोजन

हे युद्ध केवळ आमच्या राज्यसुखलोभार्थ घडून येत आहे अशी अर्जुनाची समजूत झाली होती. श्रीकृष्णांनी हे युद्ध केवळ तुमच्या



स्वार्थासाठी नसून व्यापक हितार्थ आहे, व त्या दृष्टीने तू यात केवळ एक निमित्त आहेस हे अर्जुनाच्या मनावर बिंबविले. यासाठी त्यांनी योग्यांनाही दुर्लभ असे विश्वरूपदर्शन दाखवून कराल कालाच्या दाढेत या व्यक्तींचा मृत्यु आधीच ( निश्चित ) झालेला आहे हे दाखविले. तू तो निर्णय ईश्वरी न्यायाचे 'निमित्त' ( साधन ) बनून प्रत्यक्ष क्रियान्वित कर. " निमित्त मात्र भव सव्यसाचिन् - ११-३३ ) (१)

शकुनीने कौरवांतर्फे कपटयुक्त द्यूत करून पांडवांना हरवले होते. पंतु तरीही पांडवांनी द्यूतसमयीच्या अटी पूर्ण पालन केल्यावरही दुर्योधनाने त्यांचे इंद्रप्रस्थ राज्य ( त्यातील केवळ पांच गांवेदेखील ) परत करण्यास नकार दिला होता. एखादी सामान्य व्यक्ति अन्य कोणाच्या संपत्तीचे असे अपहरण करील तर त्याच्या विरूद्ध देशाच्या शासकाकडे न्याय मागता येईल. पंतु स्वतः शासकच असा घोर अन्याय करील तर त्यावर काय उपाय ? आणि " यदादाचरति श्रेष्ठः तत्तदेवेतरो जनः " ( ३-२१ ) या प्रथेनुसार सर्व समाजावर त्याचे किती दुष्परिणाम होतील ? या संदर्भात श्रीकृष्णांनी कौरवांविरूद्ध त्या युद्धाचे औचित्य पाहिले.

अर्जुनाने म्हटले होते की, स्वतःचे गुरू, स्वजन, मित्र, याविरूद्ध युद्ध अतिवाईट कृत्य आहे. एक सर्वसामान्य नियम म्हणून श्रीकृष्णासही हे मान्य होते. पंतु अर्जुनासमोर उपस्थित परिस्थिती फार भिन्न प्रकारची होती. आपले आदरणीय ज्येष्ठ आप्त, आदरणीय गुरुजन, कुलबांधव, मित्र आदि, घोर अन्याय करून शांतिप्रिय तडजोडीचे सारे प्रयास अमान्य करणाऱ्याच्या बाजूने आपल्या विरूद्ध लढाईस सुसज्ज उभे राहिले तर काय करावयाचे ? या परिस्थितीत श्रीकृष्णानी अर्जुनास वारंवार स्मरण दिले की त्याच्यासाठी ते युद्ध ' धर्म्य ' ( धर्मरक्षणार्थ ) होते. अर्जुन म्हणाला होता,

(१) असाच एक वाक्प्रयोग महाभारतात अन्यत्रही आला आहे. पांडवांच्या वनवासात गंधमादन पर्वतावर भीमाने काही यक्ष-राक्षसांना मारून टाकले, त्यावर युधिष्ठिराला खेद झाला. तेव्हा कुबेराने म्हटले, " कालेनैते हताः पूर्व निमित्तमनुजस्तव " ( वनपर्व, १६१-४४ ) ( अर्गास्ति ऋषींच्या शास्त्रानुसार ) कालपुरुष द्वारा हे पहिलेच मारले गेले होते. ( यांचा मृत्यू निश्चित झाला होता ), आणि तुझा भाऊ ( आता यासाठी केवळ ) निमित्त झाला आहे. "

" न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे " १-३१.

" युद्धात स्वजनांचे प्राण घेऊन कल्याण होईलसे मला वाटत नाही. " त्यावर श्रीकृष्ण म्हणाले,

धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते २-३१.

" क्षत्रियाला धर्म्य युद्धापेक्षा अधिक श्रेयस्कर काही नाही. " अर्जुनाने फक्त ' आहवे ' ( युद्धात ) असे म्हटले होते; यावर श्रीकृष्णांनी हे धर्म्ययुद्ध आहे व म्हणून यात स्वजनवध झाला तरी तो तुज क्षत्रियाच्या श्रेयप्राप्तीला बाधक होऊ शकणार नाही हे सुचविले आहे. अर्जुनाचे म्हणणे होते की या युद्धात हा स्वजनवध करून आम्हाला महापाप लागेल ( १-४५ ). यावर श्रीकृष्णांनी उलट उत्तर दिले -

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्य संग्रामं न करिष्यसि

ततः स्वधर्म कीर्तिं च हित्वा पापवाप्स्यसि ॥ २-३३ ॥

" तू हे धर्म्य युद्ध करणार नाहीस तर स्वधर्म व कीर्ति यांना पारखा होऊन पाप प्राप्त करून घेशील. "

आम्ही हे स्वजनयुद्ध केल्यास आमच्या स्वर्गस्थ पितरांचे पतन होईल हा अर्जुनाचा तर्कही भ्रामक होता. (१) त्या पितरांनी आपले जीवन सत्कार्यात घालवले असेल तर त्यांच्या वंशजांच्या दुराचरणाने त्यांचे पतन होणार नाही ( ६-४० ). उलट, ज्यावेळी त्यांचे सुकृत संपुष्टात येईल त्यावेळी त्यांच्या पुत्रपौत्रांनी कितीही पिंडोदकक्रिया केल्या तरी त्या त्यांना वर रोखून धरू शकणार नाहीत !

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं

क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशान्ति ॥ ९-२१ ॥

" ते त्या विशाल स्वर्गलोकाचा उपभोग घेऊन ( संचित ) पुण्यसंचय संपल्यावर पुनः मृत्युलोकी येतात ( जन्म पावतात ) ... "

(१) मात्र माझे पितर ' पतन पावतील ' इतकेच अर्जुनाने म्हटले आहे; ' नरकात पडतील असे म्हटले नाही. श्लोक १-४२ मध्ये तो इतकेच म्हणतो की, कुलघातक स्वतः व संकरादि अधर्माने भ्रष्ट झालेले उर्वरित सर्व कुल हे नरकात जातात; आणि अशा भ्रष्ट वंशजांनी पिंडोदकक्रिया सोडल्याने पितरांचे ( स्वर्गादि लोकांतून ) पतन होते. त्या संकराचा व अधर्माचा त्या मृत पूर्वजांशी संबंध नसल्याने त्यांचा नरकात जाण्याचा प्रश्नच नाही, व अर्जुन तसे म्हणतही नाही. पण काही अनुवादक तसा चुकीचा आशय अर्जुनाच्या तोंडी घालतात.



अर्जुनाच्या 'पाप' भयाचे निराकरण

'हे युद्ध केल्याने मला महापापाचा दोष लागेल' हा जो ग्रह अर्जुनाने आपल्या उराशी बाळगला होता त्याचे श्रीकृष्णानी निराकरण केले आहे. हे युद्ध न करशील तर मात्र पाप लागेल असे प्रारंभीच त्याला बजावून ( २-३३ ), उलट 'तू हे युद्ध कर, तुला हे युद्ध लढल्याने पाप लागणार नाही' असे आश्वासन दिले आहे ( २-३८ ). श्लोक ४-३५ मध्ये तुझा हा सांप्रतचा मोह ज्ञानदर्शनाने समूळ नाहीसा होईल असे आश्वासन दिल्यानंतर, त्या मोहाचा संबंध अर्जुनाच्या मनातील पापभयाशी आहे हे जाणून, श्रीकृष्ण पुढल्या श्लोकात म्हणतात,

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः

सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ॥४-३६॥

“तू सर्व पाप्यांहूनही महापापी असला तरी या ज्ञानाची साधना केल्यास सारी पापप्रवृत्ती नष्ट होईल.”

श्रीकृष्ण सोळाव्या अध्यायात पुनः सांगतात -

दैवी संपद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता

मा शुचः संपदं दैवीमभिजातोऽसि पांडव ॥१६-५॥

“दैवी गुणसंपदा मुक्तिदायक, व आसुरी बंधनकारक मानली गेली आहे; अर्जुना, तुझा जन्म दैवी गुणांसह झाला आहे. ( या युद्धासंबंधी पापभयाने) शोक ( व युद्धकर्तव्याचा त्याग ) करू नको. ” फार काय, गीतोपदेशाचा शेवटचा या पापविमोचक आश्वासनात झाला आहे. अर्जुना, हे ( न्याय्य ) युद्ध कर -

...अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥१८-६६॥

“मी तुला सर्व पापांपासून मुक्त ठेवीन ( स्वकुल बांधवांविरुद्ध हे युद्ध केल्यास महापाप लागेल असा शोक करू नको. ” या शब्दांनी श्रीकृष्णांनी अर्जुनास पुनः शेवटचे आश्वासन देऊन आपला पवित्र उपदेश संपविला असून, अर्जुनानेही त्यानंतर आपला मोह दूर झाला व मी युद्धार्थ तयार आहे अशी ग्वाही दिली. ( १८-७३ )

मला प्रामुख्याने कोणाशी लढावे लागेल हे मी पाहून घेऊ इच्छितो म्हणून रथ उभय सैन्यांच्या मधोमध उभा कर असे अर्जुनाने सारथी श्रीकृष्णास म्हटले ( १-२१, २२, २३ ). श्रीकृष्णांनी त्याप्रमाणे रथ नेऊन उभा केला व ते अर्जुनास म्हणाले, “पश्य एतान् समवेतात् कुरून्” ( १-२५ हे जमलेले कुरू पाहा ). अर्जुनाने समोर दृष्टि टाकताच, समोर प्राणांतिक युद्धासाठी उपस्थित दुर्योधनादि प्रमुख कौरव पाहून, अर्जुनाच्या मनाला एकदम जोराचा

धक्का बसला. आणि आम्ही हे युद्ध आमच्या राज्यसुखादि स्वार्थासाठी लढत असून, यात आमच्याच दुर्योधनादि कुरुकुल बांधवांचा वध करणार आहो, हे महापाप होईल अशी त्याची भावना होऊन, त्याने श्रीकृष्णाजवळ ते युद्ध करण्यास नकार दिला. यावर श्रीकृष्णांनी त्याला गीतोपदेश केला व तो श्रवण करून अर्जुन ते युद्ध करण्यास तयार झाला.

या एकंदर वस्तुस्थितीत श्रीकृष्णांनी रथ प्रमुख कौरव नेत्यांसमोर नेल्यावर अर्जुनास जे ( वर उद्धृत ) म्हटले त्यात दोन भिन्न आशय पाहिले जाऊ शकतात. एक असा की, अर्जुन लढणे प्रारंभ करण्यापूर्वी शत्रूंपैकी प्रमुखांना पाहून घेऊ चाहत होता म्हणून तदनुसार रथ नेऊन उभा केल्यावर, श्रीकृष्ण सरळ म्हणाले की प्रमुख शत्रू दुर्योधनादि 'कुरू' ( कौरव ) समोर उभे आहेत त्यांना पाहून घे ( व लढणे प्रारंभ कर ). त्याप्रमाणे अर्जुनाने समोर पाहिले, पण त्याबरोबर एकदम दुर्योधनादि स्वकुल बांधवांच्या वधाची कल्पना त्या उदात्त सत्प्रवृत्त पापभीरू स्वार्थरहित अर्जुनाच्या मनात उदभवून मी हे युद्ध करणे महापाप होईल असा त्याच्या बुद्धीला मोह होऊन त्याने त्या युद्धास नकार दिला.

पण याशिवाय काहीजण श्रीकृष्णांच्या त्या वचनात असा आशय पाहतात की श्रीकृष्णांनीच अर्जुनाला हे समोर उभे 'शत्रू' पाहा, 'योद्धे' पाहा, असे न म्हणता, 'कुरून्' शब्द वापरला, व हे समोर उभे तुझे प्रमुख शत्रू तुझ्याच कुरुकुळातील आहेत हे ध्वनित करून अर्जुनाच्या मोहाला स्वतःच प्रेरित केले व नंतर त्याच्या निराकरणार्थ गीतोपदेश केला.

या स्पष्टीकरणावर असा प्रश्न उपस्थित होतो की, त्या भीषण महायुद्धाच्या ऐन आरंभक्षणी अर्जुनाच्या मनात तो मोह प्रेरित करण्यात व प्रदीर्घ उपदेशाने त्याचे निराकरण करण्यात श्रीकृष्णांचा काय उद्देश असू शकत होता ? आणि श्रीकृष्णांनी आपल्या उत्तराच्या आरंभी व आणखीही काही स्थळी त्या मोहाचा निषेध केला आहे. स्वतःच त्या मोहाला प्रेरित करून, आपल्या उत्तरात त्याचा निषेध करणे कसे सयुक्तिक होईल ?

या उलट, प्रथम स्पष्टीकरणानुसार अर्जुनाच्या त्या युद्ध विरुद्ध मोहाचा उगम स्वतः त्याच्याच उदात्त पापभीरू निष्काम स्वभावात होता, आणि युद्धारंभाची परम आवश्यकता पाहून श्रीकृष्णांनी त्याचे निराकरण करून अर्जुनाला ते युद्ध करण्यास तयार केले.

\*\*\*



## उत्तर खंड गीतोपदेश

### प्रकरण - ५ आदर्श कर्मचरण

#### निष्काम आणि निरहंकार

गीतोक्त आदर्श कर्म मनातून, अंतःकरणातून, शुद्ध असले पाहिजे. या शुद्ध वृत्तीचे निष्काम व निरहंकार असे द्विविध स्वरूप असून, अहंभोक्तृत्व भावनेतून कामविकार व अहंकर्तृत्व भावनेतून कर्तृत्वाहंकार निर्माण होतो. पहिलीतून मुक्ता ही निष्कामता, दुसरीतून मुक्त होणे म्हणजे निरहंकारिता. निष्कामता म्हणजे कर्मफलाचे ठायी स्वार्थविषयक आसक्तीचा अभाव. ब्राह्मी स्थितीच्या वर्णनाचा समारोप करताना गीताकारांनी निरहंकारितेचा निष्कामतेहून वेगळा उल्लेख केला आहे.

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निस्पृहः

निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥२-७१॥

“सर्व कामेच्छा त्यागून जो व्यक्ती निस्पृह, निर्मम व निरहंकार वृत्तीने वावरतो त्याला ( हृदयात पूर्ण ) शांति प्राप्त होते ”. गीतोक्त आदर्श कर्माचे निष्कामता हे एकमेव स्वरूप आहे ही समजूत चुकीची आहे; तें निष्काम असले पाहिजे आणि निरहंकारही असले पाहिजे.

या निरहंकारितेची शिकवण अशी आहे की, मनुष्याचा वस्तुतः निर्गुण निर्विकार आत्मा स्वतः काहीही करित नसून, त्याचा देह जे जे कर्म करताना दिसतो तें प्रकृतीच्या गुणांमुळे होत असल्याने व्यक्तीने स्वतःकडे त्याचे पूर्ण कर्तृत्व मानू नये. असे असता स्वतःकडे तें कर्तृत्व घेऊन त्या अहंकारभावाने ग्रस्त होणे हे अज्ञानीपणाचे लक्षण होय.

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः

अहंकारविमूढात्मा कर्तोहिमिति मन्यते ॥३-२७॥

“ प्रकृतीच्या गुणांमुळे सर्व कर्मे होत असतात पण अहंकारग्रस्त मानव स्वतःलाच ( त्यांचा ) कर्ता मानीत असतो. ”

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः

गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥३-२८॥

प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु... ॥३-२९॥

“ परंतु, अर्जुना, गुण व कर्म यांच्या परस्पर संबंधाचे तत्त्व जे जाणतात ते हा ( प्रकृतीच्या ) इन्द्रियगुणांचा ( विषयरूप ) गुणांशी ( आपसात ) व्यवहार आहे असे मानून आसक्त होत नाहीत - २८. ( उलट ) प्रकृतीच्या गुणांनी मोहित होणारे अज्ञान गुण व कर्म यांच्या ठायी आसक्त होतात - २९ ”. निष्काम कर्म करणाऱ्यांनाही प्रसंगी अहंकारितेचा भ्रम ग्रासणे संभव आहे. दुरात्म्यांचा तर राहोच, पण महात्म्यांचाही - स्वार्थ त्यागी व्यक्तींचाही शेवटचा पाश ही कर्तृत्वाहंकार बुद्धि होय. कर्म करित असताना तत्त्वतः मी त्याचा मूळ कर्ता नाही अशी मनात भावना असणे ही निष्कामतेच्याही पलीकडील स्थिती होय.

नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्

पश्यञ्गुणवत्स्पर्शजिघ्रसन्नश्चक्षुरपञ्चसन् ॥५-८॥

प्रलपन्विमूजन्गुणहृन्निमिषन्निमिषन्नपि

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥५-९॥

“ योगयुक्त तत्त्ववेत्ता पुरुषाने पाहताना, ऐकताना, स्पर्श करिताना, वास घेताना, खाताना, चालताना, झोप घेताना, श्वास घेताना, बोलताना, विसर्जन करताना, ग्रहण करताना, आणि पापण्यांची उघडझाप होतानाही, ‘मी ( मूलतः ) काही करित नसून इन्द्रियांचा आपापल्या विषयांच्या ठायी व्यवहार चालला आहे’ असे समजावे. ”

मनुष्याच्या कर्मचरणाचे दृश्य कारण त्रिगुणात्मक प्रकृतीत असते ( १३-२० ). तो कर्माची इच्छा करू शकेल, परंतु त्या इच्छेची प्रत्यक्ष कर्मात परिणती भौतिक प्रकृतीच्या माध्यमाने होते.

परंतु, मानवाच्या कर्मचरणांत अशाप्रकारे प्रकृतीचे कार्य असताही व्यक्ति आपल्या इच्छेनुसार प्रकृतीला काही प्रमाणात संचालित करू शकतो. मात्र प्रकृतीचे इष्ट दिशेने असे संचालन करण्यातही मानवाने अहंकाराहित होऊन स्वतःला ईश्वराचे ‘निमित्त मात्र’ मानावे असा गीतेचा उपदेश आहे ( ११-३३ ).



व्यक्तीने स्वतःला आपल्या कर्माचरणाने एकमेव कारण मानू नये.

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे ।

सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ॥१८-१३॥

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम् ।

विविधाश्च पृथक्चेष्टा देवं चैवात्र पञ्चमम् ॥१४॥

शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः ।

न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः ॥१५॥

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः ।

पश्यत्यकृतबुद्धित्वाच्च स पश्यति दुर्मतिः ॥१६॥

“ अर्जुना, ( मानवाची ) सर्व कर्म घडून येण्यासाठी सांख्य- दर्शनाच्या (१) सिद्धांतात ही पाच कारणे सांगितली आहेत, ती माझ्यापासून जाणून घे - १३. अधिष्ठान ( शरीर ), कर्ता, विभिन्न प्रकारची इन्द्रिये, विविध वेगवेगळ्या क्रिया, आणि याबरोबरच पाचवे कारण देव देखील - १४ ( हे देव पूर्वकर्माचा परिणाम, ५-१४, १८-१२ ). मानव जे जे उचित अथवा अनुचित कर्म शरीर, वाणी व मनाद्वारे करतो त्याची ही पाच कारणे आहेत - १५. परंतु असे असताही जो विकृत बुद्धीमुळे केवळ स्वतःला कर्ता मानतो, तो दुर्बुद्धि व्यक्ती सत्य जाणत नाही. - १६ ”

हेच या श्लोकांतही सांगितले आहे -

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना ।

करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः ॥१८-१८॥

“ ज्ञेय, ज्ञान व ज्ञाता हे तीन मिळून कर्माची ‘ प्रेरणा ’ होते. इन्द्रिये, कृति व कर्ता या तिघांनी ‘ कर्मसंग्रह ’ ( प्रत्यक्ष कर्म निर्मिती ) होतो. ” टिळक स्पष्ट करतात, “ कर्मचोदना हा शब्द मानसिक किंवा अंतःकरणातील क्रियेचा बोधक असून, कर्मसंग्रह या शब्दाने त्याच मानसिक क्रियेच्या तोडीच्या बाह्य क्रिया दाखविल्या जातात, हे यावरून दिसून येईल. कोणत्याही कर्माचा पूर्ण विचार करावयाचा म्हणजे ‘ चोदना ’ व ‘ संग्रह ’ ही दोन्ही पाहिली पाहिजेत. ” ( ‘ गीतारहस्य ’ पृ. ८३६ )

(१) शंकराचार्यांनी येथे ‘ सांख्य ’चा अर्थ, कपिलप्रणीत सांख्य दर्शन असा न करून, ज्यात ज्ञातव्य तत्त्वांच्या संख्येचे विवेचन आहे ते वेदान्तशास्त्र असा केला आहे, आणि ‘ कृतान्त ’चा अर्थ सिद्धांत ऐवजी त्यात संपूर्ण कृत म्हणजे कर्माचा अन्त अर्थात संन्यास प्रतिपादित आहे ( ते वेदान्तशास्त्र ) असा केला आहे.

सकामनिष्काम भेदाशिवाय कर्माचा कार्याकार्य भेद

गीता कर्मात केवळ काम्य व निष्काम इतकाच भेद करत नाही;

याशिवाय कार्य व अकार्य असाही दुसरा भेद गीताकारांनी केलेला आहे.

केवळ कर्त्याच्या दृष्टीने एखादे कर्म ‘ निष्काम ’ असले तरी नीतीअनीतीचा निर्णय तेवढ्यानेच पूर्ण न होता, ते कर्म व्यक्तिनिपेक्ष व्यापक भूमिकेवरून

करण्यास पात्र आहे किंवा नाही हे पाहणे आवश्यक आहे असा गीतेचा आदेश आहे. आणि या दृष्टीने श्रीकृष्णाने अर्जुनास दुसऱ्या अध्यायाच्या

समारोपात स्थितप्रज्ञतेचा सांगोपांग उपदेश केल्यानंतरही -

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।

असक्तो ह्याचरन्कर्म परमान्नोति पूरुषः ॥३-१९॥

“ म्हणून नेहमी असक्त बुद्धीने ‘ योग्य ’ कर्म आचरत रहा; असक्त वृत्तीने असे कर्माचरण करणारा व्यक्ती परमश्रेय प्राप्त करतो ”, असा अनासक्त पण ‘ कार्य ’ कर्म करण्याचा आदेश दिला आहे. आणि पुनः सहाव्या अध्यायाच्या प्रारंभी आदर्श पुरुषाचे वर्णन करिताना -

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं करोति यः ॥६-१॥

“ जो कर्माच्या फलाच्या ठायी आसक्ती न ठेवता, ‘ कार्य ’ ( योग्य ) कर्म करतो ( तो खरा संन्यासी व योगी होय ) ”, या पंक्तीतही कर्माच्या कार्यत्वाकडे, कर्मफलासाठी अनासक्तीहून भिन्नत्वाने, स्पष्ट लक्ष वेधले आहे. फलाविषयी निष्कामतेचा ( अनासक्तीचा ) संबंध कर्त्याच्या वैयक्तिक मनाशी असून, तें या दृष्टीने शुद्धि असलें तरी, केवळ निष्कामता हीच इष्टकर्माची एकमेव कसोटी नसून, याशिवाय इतरही काही वैयक्तिक व विशेषतः सामाजिक दृष्टींनी कर्माची इष्टनिष्ठता ठरविणे आवश्यक असते.

या श्लोक ३-१९ व ६-१ शिवाय, ‘ बुद्धि ’चे तीन भेद सांगण्यातही गीता कर्माच्या कार्याकार्यभेदाचे महत्त्व स्पष्ट करते -

बुद्धेर्भेदं धृतैश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु ।

प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनंजय ॥१८-२९॥

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये

बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥३०॥

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च

अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥३१॥

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता

सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥३२॥

“ अर्जुना, बुद्धिचे वृढनिश्चयी वृत्तीचेही ( सत्त्वरजतम ) गुणांनुसार त्रिविध



भेद मी वेगवेगळे सर्व सांगतो, श्रवण कर - २९. अर्जुना, प्रवृत्तिनिवृत्ति ( कोठे कर्मप्रवृत्त व्हावे व कोठे निवृत्त व्हावे ), कार्याकार्य ( कार्य म्हणजे करण्यास योग्य असे कर्म कोणते व अकार्य कर्म कोणते ), भयाभय ( कशाचे भय मानावे व कोणत्याचे भय मानू नये ), बन्ध म्हणजे काय व मोक्षाचे खरे स्वरूप कोणते, इत्यादि जी बुद्धि यथार्थ जाणते, ती सात्विक होय - ३०. जी बुद्धि धर्म व अधर्म, कार्य आणि अकार्य अपूर्ण जाणते ती राजसी होय - ३१. अर्जुना, जी तमोगुणावृत्त बुद्धि उघडउघड अधर्मालाच धर्म मानते, व सर्वच गोष्टींचा विपरीत अर्थ लावते, ती तामसी होय. - ३२

सारांश, गीता कर्मामध्ये केवळ सकाम व निष्काम इतकाच भेद करित नसून, त्याशिवाय कार्य व अकार्य असाही भेद मानते.

गीताकारांच्या या मताला पाश्चिमात्य नीतिशास्त्रांतही पुष्टी मिळते. आंग्ल परिभाषेत 'निष्काम' म्हणजे formally right व 'कार्य' म्हणजे materially right असे म्हणण्याचा प्रघात आहे. हेन्री सिज्विक, The Methods of Ethics या ग्रंथात पृ. २०६-७ वर लिहितात - "Those who hold that regard for duty as duty is an indispensable condition of acting rightly, would generally admit that acting rightly is not adequately defined as acting from a pure desire to act rightly; that though, in a certain sense, a man who sincerely desires and intends to act rightly does all he can, and completely fulfils duty, still such a man may have a wrong judgment as to the particulars of his duty, and therefore, in another sense, may act wrongly. If this be admitted, it is evident that, even on the view that the desire or resolution to fulfil duty as such is essential to right action, a distinction between two kinds of rightness is required; which we may express by saying that an act is on this view - "formally" right, if the agent in willing is moved by pure desire to fulfil duty or chooses duty for duty's sake "materially" right, if he intends the right particular effects." काही लेखक formal व material याऐवजी अनुक्रमे subjective व objective असे शब्द वापरतात.)

कार्याकार्यनिर्णयाची साधने

कर्माची ही कार्याकार्यता निश्चित करण्याचा मार्ग कोणता ? यासाठी चार साधने अथवा प्रमाणे संभवनीय दिसतात : वैयक्तिक अंतःस्फूर्ति, श्रेष्ठांचे अनुकरण, शब्दप्रामाण्य म्हणजे शास्त्रवचनादिवर श्रद्धा, आणि चवथे परिस्थिति व परिणाम यांचा सारासार विचार करणारे अनुमान प्रमाण.

यापैकी प्रथम प्रमाणास गीताकारांनी विशेष महत्त्व दिल्याचे दिसत नाही. मन निष्काम असल्यास कोणते कर्म कार्य व कोणते अकार्य होईल याचा केवळ स्वतः सदस्द्विवेकबुद्धीला विचारून तिचा निर्णय ग्राह्य मानावा असा उपदेश गीताकारांनी केलेला नाही. दुसरे प्रमाण श्रेष्ठाचरण; यालाही कार्याकार्यनिर्णयात केवळ सीमित स्थान आहे. गीतेच्या तिसऱ्या अध्यायात -

यदाचारति श्रेष्ठस्तत्तदेतररो जनः

स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥३-२१॥

“ ( समाजातील ) श्रेष्ठ व्यक्ती जे जे आचरण करतो तसेच इतर ( सामान्य ) जन करतात; ( आपल्या आचरणाने ) तो जे प्रमाण घालून देतो त्यास अनुसरून लोक वागतात ”, असा याचा उल्लेख असला तरी या श्लोकात श्रेष्ठांच्या अनुकरणाची सदैव इष्टता निश्चित प्रतिपादली नसून, अशा अनुकरणाकडे सामान्यजनांची असलेली स्वाभाविक प्रवृत्ती सांगितली आहे. आणि सामान्यांच्या प्रत्येक कर्मासाठी श्रेष्ठाचरणाचा आधार मिळणेही शक्य नसून, श्रेष्ठ कोणास मानावे, व दोन 'श्रेष्ठा'ंच्या आचरणात विरोध आढळून आल्यास कोणास मानावे हे वादाचे विषय होऊ शकतात. म्हणून 'श्रेष्ठाचरण' कार्याकार्यनिर्णयात मार्गदर्शनार्थ काही प्रमाणात उपयुक्त असले, तरी ते त्याचे प्रमुख साधन होऊ शकत नाही.

तिसऱ्या म्हणजे शब्दप्रमाणात श्रुति, स्मृति, शास्त्रे, धर्मग्रंथ आदि येतात. गीताकारांनी सामान्यजनांसाठी याची इष्टता काही स्थळी प्रतिपादन केली आहे. सोळाव्या अध्यायाचे शेवटी श्रीकृष्ण म्हणतात -

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः

न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परं गतिम् ॥१६-२३॥

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ

ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहाहंमि ॥२४॥

“ जो शास्त्रविधीचे उल्लंघन करून कामाच्या -विषयवासनेच्या ठायी रत होऊन वर्तन करीतो, त्याला सिद्धि सुख व श्रेष्ठ गति प्राप्त होत नाहीत - २३.



यासाठी कार्याकार्यानिर्णयास तुला शास्त्र प्रमाण होय. शास्त्रांत सांगितलेले कर्म नीट समजून घेऊन त्याप्रमाणे तू इहलोकी आचरण करणे योग्य होय - २४". सतराव्या अध्यायात आसुरी तपाच्या वर्णनात 'अशास्त्रविहित' (१७-५) असा उल्लेख असून, सात्त्विक यज्ञ 'विधिदृष्ट' (१७-११) व तामस यज्ञ 'विधिहीन' असतो असेही भगवंतांनी म्हटले आहे. याशिवाय 'नियतं कुरु कर्म त्वं' (३-८), 'नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते' (१८-७), आणि तसेच

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम्

अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥१८-२३॥

“कर्मफलेच्छारहित पुरुषाने आसक्ति त्यागून व रागद्वेषादींच्या वश न होता केलेले नियत (कार्य) कर्म सात्त्विक म्हटले जाते.” या श्लोकात 'नियत' म्हणजे शास्त्राने नेमून दिलेले असा अर्थ शक्य आहे. आणि ज्यावेळी अर्जुनास युद्धप्रवृत्त करण्यासाठी श्रीकृष्ण त्याच्या स्वधर्माचा उल्लेख करून स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकंपितुमर्हसि

धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यक्षत्रियस्य न विद्यते ॥२-३१॥

“(क्षत्रियानुसार) तुझ्या स्वधर्माचाही विचार केल्यास तू या युद्धासाठी नकार देणे उचित नाही; क्षत्रियाला 'धर्म्य' युद्धापेक्षा अधिक श्रेयस्कर अन्य काही नाही” असे म्हणतात, त्यावेळी त्यांच्या दृष्टीसमोर क्षत्रियाच्या शास्त्रोक्त युद्धकर्माचा विचार असला पाहिजे असे म्हणण्यास हरकत नाही.

परिणामविचार प्रमुख साधन

परंतु गीताकारांनी याप्रमाणे कार्याकार्यव्यवस्थितीसाठी शास्त्राप्रामाण्याचा उल्लेख केला असला, तरी त्यावरून ते व्यक्तीच्या स्वतंत्र विवेचक बुद्धीला निकाामी ठरवून केवळ अंधश्रद्धेचा प्रचार करू चाहतात असे नव्हे. कार्याकार्यतेचे अंतिम प्रमाण प्राप्त परिस्थितीच्या पार्श्वभूमीत कर्माच्या परिणामांचा सारासार पूर्ण विचार हे होय. गीता कर्माच्या परिणाम विचारास निषिद्ध किंवा गौण मानते असा अपसमज प्रसृत असलेला आढळून येतो. या भ्रमाचे सविस्तर व समूल निराकरण इष्ट आहे. परिणाम-विचाराशिवाय सयुक्तिक सुसंगत नीतिशास्त्र शक्य नाही; व परिणामांच्या कोणत्या तरी स्वरूपातील इच्छेशिवाय कर्म-ऐच्छिक कर्म-शक्य नाही.

गीता परिणामविचारास प्रतिकूल नाही : कर्मफलत्यागाचा अर्थ गीता परिणामविचाराला प्रतिकूल आहे या चमत्कारिक भ्रमास

गीतेतील 'कर्मफलत्याग' हा महत्त्वाचा शब्द कारणीभूत झालेला दिसतो. हे 'फल' म्हणजे कर्माचे 'परिणाम' असा अर्थ करण्याचा मोह अनेकांना होत आला आहे. परंतु निषिद्ध कर्मफल म्हणजे कर्माचे सर्व परिणाम नसून परिणामांचा केवळ एक विशिष्ट प्रकार होय. कोणतीही कर्मप्रवृत्ती परिणामांच्या इच्छेशिवाय शक्य नाही. जिला निष्काम प्रवृत्ती म्हटली जाते. तिच्यातही परिणामेच्छेचे अस्तित्व असते.

गीतेत सर्वच परिणामांविषयी त्याग, अनिच्छा (अनासक्ति) चा उपदेश केला नसून, कर्माच्या 'फला' विषयी तसा उपदेश केला आहे. कर्माचे 'फल' म्हणजे त्याचे कर्त्यावर होणारे स्वार्थरूपी (स्वसुख-दुःख विषयक) परिणाम. परंतु त्या व्यतिरिक्तही त्याचे परिणाम होत असतात; त्यात इतरांवर होणारे परिणाम, आणि त्याचप्रमाणे स्वतःवरही, पण स्वसुखाचे ऐवजी स्वहितावर होणारे, परिणाम समाविष्ट होतात. कोणतेही कर्म करिताना त्याच्या 'फलाची' म्हणजे स्वार्थस्वरूपी परिणामांची अपेक्षा करू नये. त्यापासून स्वतःच्या ऐहिक सुखदुःखात काय बुद्धि किंवा घट होईल याचा विचार करू नये, हा गीतेच्या कर्मफलत्यागाचा खरा अर्थ आहे. या व्यतिरिक्त अन्य परिणामांचीही चिंता बाळगू नये, किंवा त्यांना हेतुस्थानी मागू नये, असे गीतेचे वास्तविक सांगणे नाही. आपल्या कर्माचे परिणाम स्वहिताच्या (केवळ स्वसुखाच्या नव्हे) व परहिताच्याहि दृष्टीने इष्टच व्हावेत या हेतूने कर्मप्रवृत्त होणे हे मनुष्याचे कर्तव्य होय, व गीतेचा उपदेशही याविपरीत नाही.

गीतेत जेथे कर्मफलत्यागाचा उल्लेख आहे तेथे केवळ स्वार्थस्वरूपी परिणामांचा विचार आहे. या संबंधात प्रारंभीच आपल्या दृष्टीसमोर पुढील श्लोक उभा राहतो.

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन

मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्तत्वकर्मणि ॥२-४७॥

“तुझा केवळ कर्माचे ठायी कर्म करण्यापुरता अधिकार असून कर्मफलाच्या ठायी केव्हाही नाही. कर्मफलाला हेतु मानून कर्मास प्रवृत्त होऊ नकोस; (पण त्याबरोबरच) कर्मत्यागाचाही अंगीकार करू नकोस (कर्मफलाची आस्था सोडलीस तरी तेवढ्यामुळे कर्म सोडू नकोस).”(१)

(१) वल्लभाचार्य येथे 'अकर्म'चा अर्थ 'निषिद्ध परधर्म' असा करतात; 'कर्माचा त्याग' असा अर्थ संदर्भाशी सुसंगत आहे. हा शब्द श्लोक ३-८ मध्येही या आशयाने आला असून ४-१७, १८ मध्ये एका भिन्न सूक्ष्म अर्थाने आला आहे.



या श्लोकात श्रीकृष्ण अर्जुनास ज्या कर्मफलाचा त्याग करण्यास सांगत आहेत ते स्वार्थी फल होय. स्वार्थेतर परिणामांच्या विचाराला किंवा हेतुत्वालाही आक्षेप घेण्याचा त्यांचा उद्देश नाही. उदाहरणार्थ, 'आत्मज्ञान', 'चित्तशुद्धि', 'मोक्षप्राप्ति', 'सर्वभूतहित', 'लोकसंग्रह', 'धर्मसंस्थापना', 'राष्ट्रसेवा' अशा स्वरूपाच्या परिणामांना हेतुस्थानी मानून कर्म करणे देखील निषिद्ध आहे असा या श्लोकाचा भावार्थ खास नाही. जर स्वसुखपर व तदितरहि सर्वच परिणामेच्छेचा त्याग येथे अभिप्रेत मानला तर 'अकर्मणि संग' होण्याशिवाय गत्यंतर नाही ! परंतु तसे नसल्यानेच या श्लोकाच्या अंतिम चरणाद्वारे गीताकार सांगत आहेत की, स्वार्थी परिणामांची स्पृहा अथवा आसक्ति सोडली तरी, कर्मप्रवृत्तीसाठी अन्य (हितस्वरूपी) परिणाम उपलब्ध असल्याने, तू कर्माचाच त्याग करणे उचित नव्हे.

याशिवाय, या श्लोकासंबंधात आणखीही एका गोष्टीकडे लक्ष देणे इष्ट होईल. कर्माच्या फलाचा म्हणजे स्वार्थी परिणामाचा येथे निषेध सांगितलेला असला, तरी तो त्याच्या स्वीकाराचा नसून केवळ इच्छेला अनुलक्षून आहे हे ध्यानात घेतले पाहिजे. 'कर्मफलाच्या ठायी तुझा अधिकार नाही' या द्वितीय पादांतील विधानाचे दोन अर्थ संभवनीय असून ती संदिग्धता तिसऱ्या पादाच्या द्वारे गीताकारांनी मार्मिक रीतीने दूर केली आहे! एखाद्या गोष्टीवर कोणाचा अधिकार नाही असे म्हटल्याने ती गोष्ट मागण्याचा त्याला अधिकार नाही असा अर्थ व्यक्त होऊ शकेल; किंवा ती मागण्याचा अधिकार नाही इतकेच नव्हे तर न मागता ती त्याजकडे आली तरीही तिचा स्वीकार करण्याचा, त्याला अधिकार नाही असाही दुसरा अर्थ निघू शकेल. एखाद्या शासकीय कार्यालयात वरिष्ठ पद रिकामे झाले असता, खालच्या पदावर काम करणारा कोणी जर ते मागू लागला, तर त्याला सांगता येईल की ते मागण्याचा तुला अधिकार नाही. पण शासनाने स्वतः ते तुला दिले तर तू स्वीकार करू शकशील. परंतु शासकीय कार्य करण्यासाठी कोणाकडून पैसे घेण्याचा त्याला अधिकार नाही, याचा अर्थ असा की, ते मागण्याचा अधिकार नाही इतकेच नव्हे तर कोणी दिले तरी त्याने घेऊ नये. मानवाचा कर्मफलावर अधिकार नाही असे म्हटले म्हणजे त्याची त्याने स्वतः अभिलाषा करू नये इतकाच मर्यादित अर्थ आहे, किंवा त्या कर्मापासून नैसर्गिक (अहेतुक) प्रकारे प्राप्त होणारेही स्वसुख त्याने टाळावे की काय, असा प्रश्न उपस्थित होतो. आणि याचे समर्पक उत्तर तिसऱ्या चरणात आपल्यास आढळते. कर्मफलाला हेतू मानू नकोस इतकेच गीताकाराचे

म्हणणे आहे. हेतू म्हणजे इच्छित परिणाम. स्वसुखाला कर्माचा इच्छित परिणाम मानू नये, त्याच्यासाठी म्हणून कर्मास प्रवृत्त होऊ नये; परंतु इच्छित परिणाम स्वसुखेतर असल्यावर, अनिच्छित पण अपेक्षित (किंवा अनपेक्षितही) परिणाम म्हणून कार्य कर्मापासून स्वतःला सुख प्राप्त झाले, तर ते त्यागावे असा उपदेश गीतेने केलेला नाही ! सुखदुःखानुभवांना गीता सर्वस्वी त्याज्य मानित नसून सुखविषयक आसक्तीला व दुःखविषयक उद्दिष्टेला निषिद्ध मानते. कालिदास 'रघुवंश' काव्यात म्हणतात, राजा दिलीप 'असक्तः सुखमन्वभूत' (अनासक्तवृत्तीने सुखाचा अनुभव करित असे). केवळ जिन्ह्यासौख्यार्थ काही खाणे त्याज्य आहे, परंतु शरीराचे आवश्यक पोषण म्हणून अन्न सेवनाची इच्छा झाली व ते सेवन केले असता सुख अनुभव झाले, तर त्यात कमीपणा वाटण्याचे काय कारण ? शरीरस्वास्थ्याचे ते एक चिन्हच होय.

सारांश, या श्लोकाचा संबंध व्यक्तीच्या जीवनार्थ, व स्वास्थ्य-रक्षणार्थ आवश्यक असतील अशा कर्मांशी नसून, व्यक्तीद्वारा समाजहितार्थ केलेल्या कर्मांशी आहे.

नात्यश्रतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः ।

न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥६-१६ ॥

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।

युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥१७॥

“परंतु अर्जुना, अति खाणाऱ्याला व काहीही न खाणाऱ्याला, तसेच अतिनिद्रा घेणाऱ्याला व सदा जागत राहणाऱ्याला हा योग साध्य होत नाही - १६. आहार व अन्य भोगात संयमित राहणाऱ्याला, उचित कर्माचरण करणाऱ्याला, निद्रा व जागृतीत संयम ठेवणाऱ्याला, हा दुःखनाशक योग साध्य होतो. - १७”

गीतेची 'फल' विषयक संयमितधारणा त्रिविध तपाच्या पुढील वर्णनावरूनही ध्यानात येऊ शकते -

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः ।

अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ॥१७-१७ ॥

“जे तीन प्रकारचे (शारीरिक, वाचिक व मानसिक) तप फलाची आकांक्षा न ठेवणारे योग संपन्न व्यक्ती परम श्रद्धेने करतात त्याला सात्त्विक म्हणतात.” यातही सर्व परिणामांचा निषेध नाही, कारण यानंतरच्याच श्लोकात 'राजस' तपाचे पुढील वर्णन आले आहे.



सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत् ।

क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥१८॥

“जे तप सत्कार, मानसन्मान अथवा पूजन प्राप्त करण्याच्या हेतूने, व दंभ प्रदर्शित करण्याच्या हेतूने केले जाते त्याला राजस म्हटले आहे, ते चंचल (अस्थिर) व अल्पकालीन असते.” यावरून सात्विक तपात कोणत्या ‘फला’ची आकांक्षा नसते हे दिसून येते. परोपकारार्थ वा आध्यात्मिक आत्मोन्नतीसाठी केलेले तप सात्विक असते.

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः ।

परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥१९॥

“मूर्खतापूर्ण हट्टाग्रहाने, स्वतःला व्यर्थ पीडा देऊन, अथवा अन्य कोणाचे अनिष्ट करण्याच्या हेतूने, जे तप केले जाते त्याला तामस म्हणतात.”

याप्रमाणे वरील श्लोकात केवळ ममत्वरूपी परिणामांचा आणि त्यांनाही केवळ हेतूस्थानी मानण्याचा निषेध असता; त्यातील ‘फल’ शब्दात कर्माच्या स्वार्थेतर परिणामांसहित सर्व परिणामांचा समावेश करून गीतेवर एक अशास्त्रीय असंभव विचारसरणी अनेकवार निराधार थोपलेली आढळून येते. (१)

परंतु स्वतः श्रीकृष्ण ( श्लोक ४-८ ) मी दुष्ट संहार, सज्जन रक्षण, धर्म संस्थापना या परिणामांची इच्छा करून, ही सत्कार्ये करण्याच्या हेतूने, युगायुगात अवतार घेत असतो असे गीतेत स्वमुखे सांगत आहेत.

याप्रमाणे श्लोक २-४७ मध्ये कर्मफलाचा अर्थ कर्माचे स्वमुख-दुःखविषयक स्वार्थी परिणाम इतकाच आहे हे पाहिले, व हा मर्यादित अर्थ ध्यानात घेऊन कर्मफलाचे पुढील उल्लेख वाचले, म्हणजे त्यांचा योग्य आशय समजेल. श्लोक २-४९ मध्ये ‘कृपणाः फलहेतवः’ असे म्हटले आहे; येथेही स्वार्थी परिणामांच्या हेतूने प्रेरित होऊन कर्म करणारे कृपण होत असाच अर्थ अभिप्रेत मानला पाहिजे; एरवी वर उल्लेखिल्याप्रमाणे जन्म घेऊन

(१) काही भाष्यकार कर्मफलात परोपकारी परिणामांचाही समावेश स्पष्ट करतात. इतर कित्येक संदिग्ध भाषा वापरून असा गैरसमज निर्माण करतात. उदाहरणार्थ डॉ. राधाकृष्णन यांनी ‘मा कर्मफलहेतुर्भूः’ याचे भाषांतर ‘Let not the fruits of action be thy motive’ असे केले असून, श्री. महादेव देसाई, अॅनी बेझंट, व भगवानदास, तेलंग इत्यादींची भाषांतरेही याच स्वरूपाची आहेत. वस्तुतः या fruits शब्दापूर्वी personal किंवा egoistic असे काही विशेषण आवश्यक आहे.

जगहितार्थ कर्म करणारे श्रीकृष्णही स्वतः ‘कृपण’ ठरतील ! याचप्रमाणे मोक्षार्थ, सिद्धीसाठी, सर्वभूतहितार्थ, रत असणारे महात्मेही ‘कृपण’ ठरतील ! श्लोक २-५१ मध्ये बुद्धियोगसंपन्न पुरुष ज्या कर्मफलाचा त्याग करितात म्हणून म्हटले आहे ते कोणते, हेही आता ध्यानात येईल.

गीतेत कर्मफलाचे आलेले इतर उल्लेखही वरील विवेचनास पुष्टि देतात. श्लोक ४-१४ मध्ये श्रीकृष्ण ‘न मे कर्मफले स्पृहा’ असे म्हणतात; तेथेही त्यांचा रोख कर्माच्या स्वार्थी परिणामांवरच आहे; कारण आपल्या कर्माच्या मानवहितकारी परिणामांच्या ठायी स्वतःची निष्ठा त्यांनी याच अध्यायात आठव्या श्लोकात व्यक्त केली आहे.

श्रीकृष्ण म्हणतात,

त्यक्त्वा कर्मफलासंगं नित्यतमो निराश्रयः

कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः ॥४-२०॥

“नित्य संतुष्ट असणारा ( ज्याचा संतोष विषयसुखासमान अनित्य स्वरूपाचा नाही ), व स्वसंतोषार्थ कोणाही अन्य व्यक्तीवर वा वस्तूवर अवलंबून नसणारा, व्यक्ती कर्मविषयक व फलविषयक आसक्तीला त्यागून कर्म करीत असला तरी ( तत्त्वतः ) तो काही करत नसतो.”

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः

स संन्यासी च योगी च न निरग्निर् चाक्रियः ॥६-१॥

“जो कर्माच्या फलाच्या ठायी आसक्त न होता कार्य ( योग्य ) कर्म करतो, तो ( खरा ) संन्यासी व योगी होय; ( केवळ ) अग्निहोत्रादि सर्व कर्मे त्यागणारा ( खरा ) संन्यासी नव्हे, आणि जो ( केवळ ) ( शासोच्छ्वास, हृदय स्पंदन आदी ) शारीरिक क्रिया रोकतो तोही ( वास्तविक योगी ) नाही.” या श्लोकातही फक्त स्वमुखपर कर्मपरिणामांचा त्याग उपदिष्ट आहे. इतर म्हणजे स्वार्थेतर योग्य परिणामांच्या इच्छेस वाव असल्यानेच असा कर्मफलत्यागी मनुष्य कर्मप्रवृत्त होऊ शकतो. मात्र तो स्वार्थासाठी काहीही करीत नसल्याने, व स्वतःच्या वैयक्तिक दृष्टीने तो नित्यतम असल्याने, कर्म करीत असताही तत्त्वतः तो ( बंधनकारक असे ) काही करीत नाही असे म्हणता येते.

गीतेत निषिद्ध मानलेले फल स्वार्थस्वरूपीच असते हे आणखीही एका प्रकारे दाखविता येईल. कामाच्या व्याप्तीत केवळ स्वमुखदुःखविषयक इच्छा येतात, आणि काम व कर्माचे फल यांचा अन्योन्यसंबंध पुढील श्लोकात दाखविला आहे.



युक्तः कर्मफलं त्वक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।

अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥५-१२॥

“योगयुक्त व्यक्ती कर्मफलत्याग करून परम शांति प्राप्त करून घेतो. (उलट) योगरहित मनुष्य कामवासनेमुळे फलाच्या ठायी आसक्त होऊन बंधनात पडतो.” कामांत मोक्षेच्छा, परोपकारेच्छा, सर्वभूतहितेच्छा येत नाहीत; आणि कामवासनेमुळे मनुष्य फलाकांक्षी होतो हे या श्लोकातील विधान पाहिले म्हणजे या इच्छांचा समावेश ‘फलां’त होत नाही हे ओघानेच आले. परंतु याच्याही शिवाय पुढील श्लोक पाहा -

तदित्यनभिसंधाय फलं यज्ञतपःक्रियाः ।

दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकांक्षिभिः ॥१७-२५॥

“(ॐ) तत् असा उच्चार करून, फलाचे ठायी अपेक्षा न ठेवता, मोक्षाची इच्छा करणारे नाना प्रकारच्या यज्ञक्रिया, दानक्रिया व तपक्रिया करत असतात.” यात पूर्वार्धात फलकांक्षेचा अभाव सांगून उत्तरार्धात त्याच व्यक्तींच्या ठायी मोक्षकांक्षेचे अस्तित्व दाखविले आहे. यावरूनही कर्माच्या ‘फलां’त गीताकार केवळ अनित्य स्वसुखपर परिणामांचाच समावेश करून तदितर परिणामांचा करीत नाहीत हे उघड होते. पण यासाठी आणखी एक प्रमाण पाहा. अठराव्या अध्यायात श्रीकृष्ण म्हणतात-

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम् ।

भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित् ॥१८-१२॥

“कर्माचे अनिष्ट (दुःखप्रद), इष्ट (सुखप्रद) व इष्टानिष्ट (सुख-दुःखात्मक) (मिश्र) असे तीन प्रकारचे फल अत्यागी म्हणजे कर्माच्या फलाचा त्याग न करणाऱ्याला (जिवंतपणी प्राप्त न झाल्यास) मेल्यावर प्राप्त होते. परंतु, ज्याने फलाकांक्षेचा संन्यास केला आहे त्याला ते कधीही प्राप्त होत नाही (बंधनात पाडू शकत नाही).” येथे उघडच कर्त्याला स्वतःला भोगाव्या लागणाऱ्या स्वसुखदुःखात्मक परिणामांचा ‘फल’ शब्दाने उल्लेख केलेला आहे. त्याच्या कर्माचे जे परिणाम इतरांवर होतात त्यांच्या अभिव्यक्तीचा त्या कर्त्याच्या मृत्यूशी काही संबंध असण्याचे कारण नाही.

स्वतः श्रीकृष्णांनी केलेला परिणामविचार

स्वतः श्रीकृष्ण श्लोक ४-७, ८, ९ मध्ये स्वतःच्या दिव्य जन्मकर्माचे रहस्य परिणामविचाराच्याच आधारेने कसे सांगतात हे वर पाहिले. परंतु त्यांनी या विचाराचा असाच स्पष्ट उल्लेख आणखीही एका ठिकाणी केला

आहे. तिसऱ्या अध्यायात प्रथम -

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन ।

नानवासमवासव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥३-२२॥

“अर्जुना, तीनही लोकांत माझे स्वतःचे (माझ्या स्वतःच्या अभ्युदयार्थ वा हितार्थ) काही कर्तव्य नाही; अमुक एक वस्तू प्राप्त झाली नसून ती प्राप्त करून घ्यावयाची आहे असे काही नाही; पण तरीही मी कर्मे करतच असतो” असा आपल्या ठायी स्वार्थाचा संपूर्ण अभाव वर्णन करून (हेच ‘न मे कर्मफले स्पृहा’ या शब्दात श्लोक ४-१४ मध्येही सांगितले आहे), असे असताही मी कर्मे का करीत असतो याचे कारण सांगताना ते म्हणतात, यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतद्रितः ।

मम वर्तमानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥३-२३॥

उत्सीदयुरिमं लोका न कुर्या कर्म चेदहम् ।

संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥२४॥

“अर्जुना, जर ती आळस त्यागून कर्म करत राहणार नाही तर सर्व मानव माझ्या मार्गाचे अनुकरण करतील (व आवश्यक) कर्माचरण त्यागतील - २३. जर मी कर्माचरण करणार नाही तर (संसारतील) या लोकांची सारी जीवन व्यवस्था उद्ध्वस्त होऊन जाईल, मी अनाचाराचा प्रसारकर्ता ठरेन, आणि अनन्तोगत्वा माझ्यामुळे या (सर्व) मानवांचा विनाश होऊन जाईल. - २४” हा सारा कर्माच्या स्वार्थेतर परिणामांचाच विचार नव्हे तर काय? बुद्धि साम्यस्वरूपी झाल्यावर आपल्या वर्तनाच्या परिणामांचा विचार करीत न बसता जे परिणाम होणार असतील ते होऊ द्यावेत, त्यांची चिंता करू नये, हे जर श्रीकृष्णाचे खरोखर मत असते, तर प्रत्यक्ष त्यांनी स्वतःच आपल्या वर्तनाने मानवजातीवर होणाऱ्या परिणामांचा हा असा सहृदय विचार कशाला केला असता? याच दृष्टीकोनाने श्रीकृष्ण अर्जुनासहि उपदेश करतात -

...लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि ॥३-२०॥

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।

स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥३-२१॥

“लोकाना इष्ट मार्गदर्शन करण्याची आवश्यकता ध्यानात घेऊनही समाजात वरिष्ठस्तरावर असलेल्या तू (आवश्यक) कर्म करीत राहणे इष्ट आहे - २०. (समाजातला) श्रेष्ठ मनुष्य जे जे आचरण करतो तसेच इतर (सामान्य) जन करतात व (आपल्या आचरणाने) तो जे प्रमाण घालून देतो त्यास अनुसरून लोक वागतात. - २१”



या श्लोकात, एकंदर तिसऱ्या अध्यायात, केवळ कर्मपरताच उपदेशिलेली नसून कार्यकर्मपरताही उपदेशिली आहे. जे कर्म करशील ते कार्य असले पाहिजे हाही गीतेचा आग्रह आहे. तुझे अनुकरण इतरेजनी करण्याचा संभव असल्याने तुझ्या कर्माचे परिणाम इतरांवरही होण्यासारखे आहेत, व याचाही तू विचार केला पाहिजे; हा त्यांचा अर्जुनास उपदेश आहे.

### दानकर्मात परिणामविचार

परंतु आता याच्याही पुढे जाऊन प्रत्यक्ष परिस्थिती व संभाव्य परिणाम यांच्या सारासारविचाराची गीतेने प्रतिपादिलेली आवश्यकता पाहा.

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।

देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥१७-२०॥

“ दान करणे आपले कर्तव्य मानून ( योग्य ) स्थल, काल व पात्र ( व्यक्ती किंवा संस्था ) पाहून, आपल्यावर या दानाच्या बदल्यात परत उपकार होईल अशी अपेक्षा न ठेवता, जे दान दिले जाते त्याला सात्त्विक म्हटले आहे. ”

यात म्हटल्याप्रमाणे सात्त्विक दान केवळ शुद्ध, निष्काम बुद्धीने देऊनच भागत नाही; ते योग्य स्थळी, समयी व पात्री दिले पाहिजे. पूर्वार्धात शुद्ध बुद्धीचा उल्लेख असून उत्तरार्धात, तितक्याच महत्त्वाने, परिणाम व प्राप्त परिस्थिती यांचा विचार केला आहे. कारण देशकालपात्राची योग्यायोग्यता तरी परिणामांच्या सारासारविचारावरूनच ठरवायची. परंतु गीतेत कर्माच्या सर्वच परिणामांचा विचार वर्ज्य मानला गेला आहे या भ्रमाने कर्ममार्गीच नव्हे तर शांकरसांप्रदायी भाष्यकारही भारले गेल्याने, या श्लोकात प्रत्येक दानक्रियेच्या प्रसंगी विशिष्ट परिणामांचा योग्य सारासार - विचार करण्याचा स्पष्ट आदेश दिलेला असताही, यातील ‘देश’ शब्दाचा कुरुक्षेत्रादिशास्त्रोक्त देश, व काल शब्दाचा संक्रांत्यादि शास्त्रोक्त काल असे संकुचित अर्थ करून, गीताकारांच्या व्यापक वाणीला कित्येक भाष्यकार विनाकारण मर्यादित स्वरूप देऊ पाहतात !

वस्तुतः योग्य परिणामविचार गीतोक्त नीतिशास्त्राला मान्यच असून सात्त्विक दानाची ही व्याख्या त्यास अनुसरून आहे. माझ्या दानक्रियेचे याचकावर, इतर संबंधित व्यक्तींवर व एकंदर समाजावर काय इष्टानिष्ट परिणाम होतील याचा विचार करून ते दान दिले पाहिजे; एरवी ते वैयक्तिकदृष्ट्या कितीही निष्काम, निःस्वार्थ बुद्धीने, ‘अनुपकारिणे’, दिलेले असले तरी ते अविचारी, अयोग्य, अकार्य, गीताकारांच्या शब्दात

‘तामस’ ठरेल हा स्पष्ट धडा या व यानंतरच्या दोन श्लोकांतून दिला गेला आहे.

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः ।

दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम् ॥२१॥

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते ।

असत्कृतवज्रातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥२२॥

“ परंतु, जे उलट उपकाराच्या अपेक्षेने, अथवा अन्य प्रकारच्या फलप्राप्तीच्या उद्देशाने, व अप्रसन्न मनाने दिले जाते त्या दानास राजस म्हटले आहे - २१. जे दान अनुचित स्थानी, अनुचित समयी अथवा अपात्र व्यक्तीस दिले जाते, आणि जे सत्कारपूर्वक न देता अपमौनाने दिले जाते, त्याला तामस म्हणतात - २२ ”. दान केवळ निष्काम असणे पर्याप्त नाही. ते एकूण परिणामांचा विचार करून “ देशे काले च पात्रे च ” असले पाहिजे. गीतेत एकूण दानाचा हा क्रम दिलेला दिसतो: योग्य व्यक्तीला दिलेले निष्काम दान सात्त्विक ( १७-२० ), योग्य व्यक्तीस सकाम दिलेले दान राजस ( १७-२१ ), आणि अपात्र व्यक्तीस दिलेले दान ते निष्काम असो वा सकाम, तामस ( १७-२२ ).

आणि या विवेचनावरून राजस दानाची व्याख्या सांगताना, ते “ फलमुद्दिश्य ” असते ( १७-२१ ), किंवा राजस यज्ञ ‘ अभिसंधाय फलं ’ असतो ( १७-१२ ), किंवा राजस घृति ‘ प्रसंगेन फलाकांक्षी ’ असते ( १८-३४ ) असे गीताकार म्हणतात, त्यावेळी ते फक्त स्वार्थी ममत्वपर परिणामांना उद्देशून बोलतात हेही वेगळे स्पष्ट करण्याची आवश्यकता नाही. श्लोक १७-१७ मध्ये सात्त्विक तपात कर्ता ‘ अफलाकांक्षि ’ असतो असे म्हटले असले, तरी येथेही सर्वच परिणामांच्या कांक्षेचा निषेध नाही. या श्लोकाच्या पुढचे राजस तपाचे फलकांक्षी स्वरूप विशद करिताना ( १७-१८ ) ते ‘ सत्कारमानपूजार्थ ’ असते असे म्हटले आहे, यावरून सात्त्विक तपात ज्या फलाची आकांक्षा नसते त्याचे विशिष्ट स्वरूप ध्यानात येते. परोपकारार्थ, इतरांच्या हितवृद्ध्यर्थ केलेले तप, त्यात परिणामांची आकांक्षा असली तरी, सात्त्विक ठरेल, राजस नव्हे !

प्रत्यक्ष कर्मवर्णनांतच आलेला परिणामविचार

पण ही फक्त दान व तप या विशिष्ट कर्मांची चर्चा झाली. आता गीतेने केलेली सर्वसाधारण कर्मांचीच व्याख्या पाहा, म्हणजे तिचा परिणामविचाराशी निकट संबंध ध्यानात येऊन या बाबतीत संशयास जागा



नियतं संगरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।

अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥१८-२३॥

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः ।

क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥२४॥

“कर्मफलेच्छारहित पुरुषाने आसक्ति त्यागून व रागद्वेष-विकारादींच्या वश न होता केलेले नियत ( कार्य ) कर्म सात्त्विक म्हटले जाते - २३. परंतु जे (नियत, कार्य) कर्म कर्ता कामेच्छाप्रेरित होऊन किंवा अहंकारग्रस्त होऊन मोठ्या परिश्रमाने करितो ते राजस होय - २४.” ह्या सात्त्विक व राजस कर्मांच्या व्याख्या झाल्या; आता तामस कर्मांचे स्वरूप पाहा -

अनुबंधं क्षयं हिंसामनपेक्ष्य च पौरुषम् ।

मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ॥१८-२५॥

“पूर्वापारसंबंध ( परिणाम ), संभाव्य हानि, हिंसा, आपले बळ याविषयी योग्य विचार न करिता मोहाने जे कर्म आरंभले जाते ते तामस म्हटले जाते.” या व्याख्यांत सात्त्विक कर्माचा कर्ता ‘अफलप्रेप्सु’ असतो असे म्हटले आहे; या शब्दाच्या अर्थावर त्याच श्लोकातील ‘अरागद्वेषतः कृतम्’ या शब्दांनी स्पष्ट प्रकाश पडतो. सात्त्विक कर्मात कर्ता पूर्णपणे ‘अपरिणाम-प्रेप्सु’ नसून, फक्त रागद्वेषामुळे-कामामुळे मनुष्य ज्या स्वार्थी परिणामांची इच्छा करू लागतो, त्या विशिष्ट परिणामांच्या ( म्हणजे फलाच्या ) इच्छेपासून मुक्त असतो. हीच गोष्ट राजस कर्मांच्या व्याख्येतील ‘कामेप्सुना’ या शब्दानेही पुनः स्पष्ट होत आहे. याप्रमाणे सात्त्विक कर्मांच्या उपरोक्त व्याख्येत केवळ स्वार्थी परिणाम निषेध असून, शिवाय त्यातील ‘नियत’ या स्पष्ट शब्दाने योग्य परिणामविचार सुचविलेला आहे. देश, काल, पात्र इत्यादि शब्दांप्रमाणे, या नियत शब्दाचाही व्यापक अर्थ करून ‘प्राप्त परिस्थितीत योग्य परिणाम विचाराने निश्चित केलेले’ असा आशय त्यात पाहणे संयुक्तिक होय.

\*\*\*

## प्रकरण - ६

### गीता आणि वेद

गीतेचा वेदांविषयी संयमित दृष्टिकोण

गीतेत वेद व यज्ञादि वेदोक्त कर्म यांच्याविषयी व्यक्त दृष्टिकोण, एकूण इतरत्र विषयक दृष्टिकोणासमान, संतुलित व संयुक्तिक आहे.

भारतवर्षात प्राचीन काळापासून वेदांविषयी अति आदराची भावना आहे. श्रीकृष्णाही वेद व वेदोक्त कर्मांविषयी आदर व्यक्त करतात.

अहं क्रतुर्हं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम् ।

मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निर्हं हुतम् ॥९-१६॥

“मी क्रतु ( यज्ञ आरंभ करतेसमयी घेण्याचा संकल्प ) आहे. मी यज्ञ आहे, मी स्वधा ( श्रद्धात पितरांना अर्पण केलेले अन्न ) आहे, मी अशा कर्मांना आवश्यक वनस्पति आहे, मी ( या कर्मात पठण करण्याचा ) मंत्र आहे, मीच ( आहुतीत देण्याचे ) तूप आहे, मी अग्नि आहे, आणि अग्नीत जे हवन केले जाते ते मी आहे.” ( शंकराचार्य ‘ऋतु’ म्हणजे श्रौत यज्ञ, आणि ‘यज्ञ’ म्हणजे स्मार्त यज्ञ असे अर्थ देतात; मी येथे नीलकंठ भाष्यानुसार अर्थ दिले आहेत ). हे सर्व ‘मी आहे’ याचा आशय असा की, या सर्वात मूलतः माझे स्वरूप आहे, व यांना माझ्याप्रमाणेच पवित्र व पावन मानावे.

यानंतर वेदांचा स्पष्ट उल्लेख करून श्रीकृष्ण म्हणतात -

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः ।

वेदां पवित्रमोकार ऋक्साम यजुर्वेद च ॥१७॥

“मी या जगाचा पिता, माता, पालनकर्ता ( आधार ), पितामह आहे, जे काही ज्ञेय ( ज्ञान योग्य ) पवित्र आहे, ओंकार आणि ऋग्वेद, सामवेद व यजुर्वेदही मी आहे ( त्यात माझे यजनपूजन आहे ) ” या दोन्ही श्लोकांसमान मुण्डक उपनिषदात हा श्लोक आहे, “तस्माद् चः साम यजुंसि दीक्षा ।



यज्ञाश्र सर्वे क्रतवो दक्षिणाश्च ” (१-१-६)

सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो

मत्तः स्मृतिज्ञानमपोहनं च ।

वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो

वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥१५-१५॥

“मी सर्वाच्या हृदयांत स्थित आहे, माझ्यापासूनच त्यांना स्मृति, ज्ञान प्राप्त करण्याची पात्रता, व (अनिष्ट विषयाचे) विस्मरण करण्याची वृत्ती प्राप्त होते; सर्व वेदांनी जे जाणावयाचे ते मीच असून, वेदांताचा कर्ता व वेदांचा ज्ञाता मीच आहे.”

परंतु श्रीकृष्ण वेदांविषयी विवेकहीन अंधश्रद्धा प्रतिपादन करीत नाहीत. ते अर्जुनास म्हणतात -

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन

निर्द्वंद्वो नित्यसत्त्वस्थो नियोगक्षेम आत्मवान् ॥२-४५॥

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके ।

तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥२-४६॥

“अर्जुना, वेदांचे प्रतिपादन सत्त्वरजतम त्रिगुणात लिप्त ( ऐहिक जीवन सुखमय करण्यासाठी ) आहे, तू त्रिगुणातीत, सुखदुःखादि द्वंद्व रहित, नित्य सत्त्वगुणांतस्थित, स्वतःच्या योगक्षेमाची ( सांसारिक जीवनाविषयी ) चिंता न करणारा, आत्मनियंत्रित हो. - ४५ ” ( अशा व्यक्तीची जीवन चर्या स्वतः ईश्वर चालवतो १-२२ ). ( सत्त्वगुणात नित्य स्थित असताही ‘निस्त्रैगुण्य’ कसे याचे स्पष्टीकरण प्रकरण ११ मध्ये केले आहे. )

“सर्वत्र जलमय झाले असता एखाद्या विहिरीत जितका अर्थ ( उरतो म्हणजे मुळीच उरत नाही ) तितका अर्थ सर्वज्ञ ब्रह्मवेत्त्या पुरुषाला सर्व वेदांत ( म्हणजे वेदांत वर्णिलेल्या कर्मांत नव्हे कर्माच्या स्वसुखपर फलात ) वाटतो, ( म्हणजे मुळीच वाटत नाही ) ” - ४६.

या श्लोकाचा असा अर्थ केल्यास वेदांना कमीपणा येतो म्हणून काहीजणांनी याचा वेगळा अर्थ लावला आहे. त्याची चर्चा टिळकांनी ‘गीतारहस्य’ पुस्तकात केली असून, त्यांचा या श्लोकासंबंधीचा दृष्टिकोन एकंदरीत योग्य वाटतो. मात्र यात वेदोक्त कर्मांच्या फलांचे वैयर्थ सांगितले असून वेदोक्त कर्मांचे नव्हे हे ध्यानात घेणे आवश्यक आहे. तसे केले म्हणजे या श्लोकात वेदांना पूर्ण वैयर्थ्य येत नाही.

गीतेत सर्वोच्च ज्ञानाच्या दृष्टीने वेदांना काही अन्य स्थळीही गौणत्व दिले आहे. वेदोक्त सकाम कर्मफलांनी आकृष्ट होणाऱ्यांना श्रीकृष्ण

‘वेदादायताः’ ( १-४२ ) ‘कामात्मातः’ ( २-४३ ), जन्ममरण चक्रात फसलेले ‘कामकामाः’ ( १-२०, २१ ) म्हणतात. आणि वैदिक ऋचांना संसाररूप अश्वत्थ वृक्षाची पाने संबोधित करून श्रीकृष्ण म्हणतात -

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।

छन्दसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥१५-१॥

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा

गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः ।

अधश्च मूलान्यनुसंततानि

कर्मनुबन्धीनि मन्यलोके ॥२॥

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते

नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा ।

अश्वत्थमेनं सुविरूढमूल

मसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ॥३॥

“ज्याची जड वर असून शाखा खाली पसरल्या आहेत. (१) ( वैदिक ) छंदोबद्ध ऋचा ज्याची पाने आहेत असा ( संसार रूप ) पिंपळवृक्ष अविनाशी म्हटला गेला आहे, जो याला ( वास्तव रूपात ) जाणतो तो वेदांचा ( खरा ) ज्ञाता आहे - १. ( सत्त्व, रज, तम ) गुणरूप जलाने पुष्ट व ऐन्द्रियिक विषयरूप टोकदार त्याच्या शाखा खाली व वर पसरल्या आहेत, आणि कर्मानुसार बंधनात टाकणाऱ्या ( वासना रूप ) जडा खाल पावेल तो मनुष्य लोकात सर्वत्र व्याप्त आहेत - २. ( परंतु ) त्याचे हे असे ( वास्तव ) स्वरूप या लोकी प्रत्यक्ष अनुभवास येत नाही, त्याचा अंत, आरंभ व आधार दिसत नाही; अशा या पक्या जडाच्या पिंपळ वृक्षाला दृढ अनासक्ति रूप शरशस्त्राने छेदून. - ३,

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं

यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः ।

तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये

यतः प्रवृत्तिः प्रसूता पुराणी ॥४॥

निर्मानमाहा जितसङ्गदोषा

अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।

द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञै-

र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥५॥

(१) ‘खाली’ म्हणजे पशु आदि योनीत आणि ‘वर’ म्हणजे स्वर्गादि देवल्लोकात ( पाहा १४-१४, १५, १८ )



न तद्धासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः ।

यद्रत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥६॥

“ त्यानंतर, ज्याच्यापासून ( संसाराच्या ) या पुरातन प्रवृत्तीचा उद्भव झाला आहे त्या आद्य ( सनातन ) पुरुषालाही मी जाणू चाहतो अशी मनात भावना ठेवावी, आणि जेथे पोचणारे पुनः परत येत नाहीत त्या परम पदाच्या मार्गावर जावे. ” (१) - ४ ज्यांचा वृथाभिमान व मोह नष्ट झाला आहे, ज्यांनी ऐन्द्रियिक विषयांसाठी आकर्षण रूप दोष जिंकून घेतला आहे, जे नित्य अध्यात्म-चिंतनात मग्न असतात, ज्यांचे कामविकार शांत झाले आहेत, जे सुखदुःखादि द्वांपासून मुक्त आहेत, असे ज्ञानी तें अक्षयपद प्राप्त करतात - ५. तें ( सर्वोच्च स्थान ) सूर्याद्वारा प्रकाशित होत नाही, चंद्राद्वाराही नाही, अग्निद्वाराही नाही, ( तें स्वयंप्रकाशी आहे ); जेथे पोचणारे परत येत नाहीत ते माझे परमश्रेष्ठ निवासस्थान आहे - ६. ” श्लोक ६ कठ २-१-१५, मुण्डक २-२-१० व श्वेताश्वतर ६-६-३४ या उपनिषदांतील या श्लोकावर आधारित आहे, “ न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः । तमेव भान्तमनुभाति सर्वे । तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥ ”

मानवाने भौतिक निसर्गापासून प्राप्त अन्नधान्यादिचा काही अंश यज्ञद्वारा देवांना अर्पण करावा, आणि देवांपासून असेच आणखी पदार्थ प्राप्त करावे, ही वेदांची शिकवण गीतेतही आहे. परंतु श्रीकृष्ण त्याला निष्कामतेचा आपला आदेश जोडतात -

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।

तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्ग समाचर ॥३-९॥

“ यज्ञार्थ केलेल्या कर्माहून अन्य कर्मे केल्याने हा मानव लोक कर्माच्या ( परिणामांच्या ) बंधनात पडतो; अर्जुना, यज्ञाच्या उद्देशाने ( परंतु ) आसक्तिरहित कर्म कर ”. यात प्रथम पंक्तीत श्रीकृष्णांनी मीमांसकांची ( कर्ममार्गीयांची ) रूढ धारणा व्यक्त करून, द्वितीय पंक्तीत स्वतःचा आदेश दिला आहे ही टिळकांची ( ‘ गीतारहस्य ’ ग्रंथात ) टिपणी मार्मिक आहे. श्रीकृष्णांच्या अनुसार ‘ यज्ञार्थ कर्म ’ ही अनासक्त असेल तेव्हा कर्मबंधनापासून वास्तविक मुक्ति प्राप्त होईल. ( काही भाष्यकार या श्लोकात ‘ यज्ञ ’चा अर्थ विष्णु अथवा परमेश्वर करून, प्रथम पंक्तीतही श्रीकृष्णांचेच मत पाहतात, परंतु या श्लोकाला लागून आलेले श्लोक पाहता, येथे ‘ यज्ञ ’चा

(१) या श्लोकाच्या उत्तरार्धातील आशयाचे श्वेताश्वतर उपनिषदात हे वचन आहे, “ तदक्षरं तत्सवितुर्वरेण्यं । प्रज्ञाच तस्मात् प्रमृता पुराणी ॥४-४-१८.”

अर्थ यज्ञकर्म सयुक्तिक आहे.)

पण वास्तविक निरासक्ति सहजसुलभ नाही हे जाणून, श्रीकृष्ण सामान्य मानवाने यज्ञकर्मादि पूर्णपणे त्यागू नये या उद्देशाने यज्ञाचरण ऐहिक भोग प्राप्त करण्यासाठीही केले जावे असे प्रतिपादन करतात -

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।

अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥३-१०॥

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।

परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥११॥

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः ।

तैर्दान्तप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥१२॥

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वैकिल्बिषैः ।

भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥१३॥

“ पुरातन काळी ( सृष्टिप्रारंभी ) प्रजापतिने प्रजांना ( मानवांना ) यज्ञसंस्थेसह उत्पन्न करून म्हटले, याच्याद्वारा तुम्ही आपली समृद्धी करा, हा ( यज्ञ ) तुमच्या इच्छा पूर्ण करणारा होवो - १०. याच्याद्वारा तुम्ही ( इन्द्रादि ) देवांना संतुष्ट करा, आणि ते देव तुम्हाला समृद्ध करी; परस्परांना संतुष्ट करत तुम्ही ( जीवनाचा ) परम उत्कर्ष साध्य करा - ११. यज्ञांनी संतुष्ट देव तुम्हाला ( धान्यजलफलादि ) इष्ट भोग्य पदार्थ देतील; त्यांनी दिलेले पदार्थ त्यांना ( यज्ञद्वारा ) अर्पण केल्याशिवाय जो त्यांचा उपभोग घेतो तो चोरच होय - १२. यज्ञात ( देवांना आहुती अर्पण करून ) श्रेष्ठ उरलेले अन्न खाणारे सज्जन सर्व पापांपासून मुक्त होतात, परंतु जे ( केवळ ) स्वतःसाठी अन्न शिजवतात ते ( जणू ) पाप भक्षण करतात - १३ ”. असेच मनुस्मृतीतही म्हटले आहे - “ अघं स केवलं भुङ्क्ते यः पचन्त्यान्मकारणात् । यज्ञशिष्टाशनं ह्येतत् सतामन्नं विधीयते ” ॥३-११८॥

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः ।

यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥१४॥

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।

तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥१५॥

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः ।

अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥१६॥

“ अन्नापासून प्राणी उत्पन्न होतात ( व जीवित राहतात ); अन्न पर्जन्यापासून होते, यज्ञद्वारा ( इन्द्रादि देवांना प्रसन्न करून ) पर्जन्य प्राप्त होतो, आणि यज्ञ कर्मरूपाने केला जातो. - १४ ” ( या श्लोकाच्या प्रथम चरणात तैत्तिरीय



उपनिषदाच्या पुढील वचनाचा प्रतिध्वनि आहे, “अत्रा द्वे प्रजा प्रजायन्ते याः काश्च पृथिवीं श्रिताः। अथो अन्नैव जीवन्ति ॥२-१-२; आणि द्वितीय चरणांतील ‘यज्ञः कर्मसमुद्भवः’ शब्दांसमान श्लोक ४-३३ मध्येही यज्ञाना कर्मज्ञान म्हटले आहे)। “ (यज्ञरूप) कर्माचा उद्भव वेदांपासून झाला आहे, आणि वेद अक्षर परमेश्वरापासून निघाले आहेत. (१) म्हणून सर्व व्यापी ब्रह्म यज्ञात अधिष्ठित असते हे जाणून घे. - १५ ” रामानुजाचार्य येथे प्रथम चरणात ‘ब्रह्म’चा अर्थ ‘वेद’ ऐवजी प्रकृति (रूप शरीर) असा करतात, आणि प्रकृति मूलतः परब्रह्म निर्मित आहे असा आधार देतात; परंतु या दृष्टीने ‘सर्वगतब्रह्म’ सर्वच मानव कर्मांशी संबद्ध होते आणि त्याला ‘यज्ञे प्रतिष्ठितम्’ म्हणण्यात वैशिष्ट्य राहत नाही. आणि येथे विशिष्ट संदर्भ यज्ञाचा आहे. “अर्जुना, अशाप्रकारे चालत राहणाऱ्या चक्रानुसार जो या संसारात आचरण करत नाही त्याचे जीवन पापमय होऊन, अशा इंद्रिय-लोलुप व्यक्तीचे जीवित राहणे व्यर्थ आहे. - १६ ” (चक्र = ‘मानव-यज्ञकर्म-पर्जन्य-अन्न-मानव’).

अशी पारंपारिक धारणा व्यक्त केल्यावर, श्रीकृष्ण यज्ञ कर्मात व्यक्तीच्या स्वसुखाच्या अपेक्षेऐवजी निष्कामतेच्या दृष्टिकोनाकडे वळून म्हणतात -

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।

यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥४-२३॥

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।

ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥२४॥

“अध्यात्मज्ञानात चित्त स्थिर करून ज्याने (भौतिक) आसक्तीचा त्याग केला आहे, आणि यज्ञाच्या उद्देशाने आचरण करतो, अशा मुक्त व्यक्तीचे कर्म संपूर्ण विलीन होऊन जाते. (काहीही बंधन मागे सोडत नाही) - २३. यज्ञात ज्या पात्रात अर्पण केले जाते ते ब्रह्मरूप, जे अर्पण केले ते ब्रह्मरूप, आणि ते अग्निरूप ब्रह्मात अर्पण कर्तारूप ब्रह्म ने हवन केले, अशा स्वरूपात सर्व कर्म ब्रह्मरूप आहे अशी ज्याची बुद्धी समत्वपूर्ण झाली, तो ब्रह्मत्वालाच जाऊन पोचतो. - २४ ” हे बुद्धियोगयुक्त यज्ञकर्माचे वर्णन आहे.

(१) बृहदारण्यक उपनिषदात म्हटले आहे, “अस्य महतो भूतस्य निश्चसितम् एतत् यत् ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वान्निःसः” (२-४-१०)

‘यज्ञ’चा व्यापक अर्थ

गीता ‘यज्ञ’ शब्द व्यापक अर्थाने घेऊन त्यात ‘यज्ञकर्म’ म्हटले जाऊ शकेल अशा विविध प्रकारांचा उल्लेख करते - दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते।

ब्रह्माग्रावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥४-२५॥

“अन्य कोणी योगी (इन्द्रादि) देवांचे आवाहन करून (सकाम) यज्ञ करतात. (१) आणि अन्य कोणी वेदरूप अग्नीत वेदांच्याच यज्ञविषयक मंत्रांचा स्वाध्यायरूप (वाक्) यज्ञ अर्पण करतात (नियमित वेद पठन करीत असतात).” काही भाष्यकार येथे द्वितीय पंक्तीत ऋग्वेदातील पुरुषसूक्ताच्या ‘यज्ञेन यज्ञमजयन्त देवाः’ या वचनाशी साम्य पाहतात; परंतु त्यात देवांनी यज्ञाचे (यज्ञ पुरुषाचे) यज्ञविधिद्वारा यजन (पूजन) करण्याचे म्हटले असून, ‘यज्ञ’ ते स्वीकार करणारा आहे; उलट गीतेच्या श्लोकात यज्ञ ‘ब्रह्माग्नि’ला अर्पण केलेला हवि आहे.

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति।

शब्दादीन्विषयानन्ये इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ॥२६॥

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे।

आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥२७॥

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे।

स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥२८॥

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।

प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ॥२९॥

अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति।

सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥३०॥

“अन्य कोणी कान (व नेत्र) आदि इंद्रियांना संयमरूप अग्नीत हवन करतात (या इंद्रियांना अनुचित विषयांपासून रोकतात); अन्य कोणी (उचित) शब्द आदि विषय इंद्रियरूप अग्नीत अर्पण करतात (कानांनी शास्त्र श्रवण, मुखाने ईश्वर कीर्तन, डोळ्यांनी देवदर्शन आदि करतात) - २६. अन्य कोणी इंद्रियांच्या व प्राणाच्या सर्व क्रियांचे (पातंजल योग दर्शनाच्या) ज्ञानाने प्रकाशित आत्मसंयमयोग (समाधी) रूप अग्नीत हवन करतात (सर्व शारीरिक क्रिया नियंत्रित करून चित्त समाधी अवस्थेत स्थिर करतात -

(१) पाहा ४-१२, ७-२०; यात उल्लेखित योगी गीतोक्त ‘बुद्धियोगी’ नसून कर्ममार्गी ‘योगी’ आहे.



२७. अशाप्रकारे कठोर व्रतधारी साधकांपैकी कोणी द्रव्य यज्ञ ( श्लोक २५ प्रथम पंक्ती ), कोणी तपोयज्ञ ( श्लोक २६ ), कोणी ( पातंजल दर्शनानुसार ) योगयज्ञ ( श्लोक २७, २९ व ३० ची प्रथम पंक्ती ), आणि अन्य कोणी स्वाध्यायज्ञान पठण यज्ञ ( श्लोक २५ उत्तरार्ध ) करतात - २८. अन्य कोणी प्राणायाम क्रियेत निष्ठा असणारे साधक प्राण ( उच्छ्वास ) व अपान ( आत घेतलेला श्वास ) यांच्या गतीवर नियंत्रण ठेवून, कधी अपानात प्राणाचा ( होम ) निरोध ( ' पूरक प्राणायाम ' ), तर कधी प्राणात अपानाचा निरोध ( ' रेचक प्राणायाम ' ) करतात - २९. अन्य कोणी आहार नियंत्रित करून प्राणवायूचे प्राणवायूत हवन करतात ( प्राणवायूंना पूर्ण नियंत्रित ठेवतात ). हे सर्व यज्ञवेत्ते असून यज्ञांनी त्याचे पाप नष्ट होऊन जाते. - ३० ”

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् ।

नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥३१॥

“ यज्ञ करून शेष उरलेले ( अन्नरूप ) अमृत (१) सेवन करणारे सनातन ब्रह्मलोकास पोचतात; अर्जुना, यज्ञ न करणाऱ्यांना ( सुखी ) इहलोक जीवन प्राप्त होत नाही, मग ( सुखी ) परलोक कोठून मिळणार ? ”

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे ।

कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानिवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥३२॥

“ असे अनेक प्रकारचे यज्ञ वेदांमध्ये सांगितले आहेत; ( परंतु ) त्या सर्वांना तू कर्म स्वरूप जाण ( अर्थात सामान्यतः ते बंधनकारक असून, श्लोक २३ व २४ मध्ये सांगितल्याप्रमाणे केले तर बंधनरहित व मोक्षदायक होतात ); हे तू जाणून घेतले तर तुला मोक्ष प्राप्त होऊ शकेल. ” ( ' ब्रह्म ' शब्दाचा या अर्थाने प्रयोग श्लोक ८-२४ मध्येही आला आहे ). वैदिक यज्ञ गीतोक्त बुद्धियोगाविना केला तर पुण्य ( व पुण्यलोक ) प्राप्त होईल, परंतु वास्तविक मुक्ति मिळणार नाही; पुण्यसंचय समाप्त झाल्यावर पुनः इहलोकात जन्म घ्यावा लागेल. वास्तविक मुक्ति ' पुण्य-फला ' साठी अनासक्ति ठेवून यज्ञ करण्याने मिळू शकेल. ( ८-२८ ). हेच ९-२७, २८ व १८-५, ६ मध्येही सांगितले असून, राजस व तामस यज्ञांच्या तुलनेत सात्विक यज्ञाच्या केलेल्या पुढील विवरणारूनही दिसून येते -

(१) पाहा मनुस्मृति, “ यज्ञशेषमथामृतम् ” ( ३-२८४ ), आणि महाभारत “ यज्ञ शेषं तथामृतम् ” ( वनपर्व अध्याय २ ).

...यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु ॥१७-७॥

अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते ।

यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्विकः ॥११॥

अभिसंधाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत् ।

इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम् ॥१२॥

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम् ।

श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥१३॥

“ ...यज्ञ, तप व दानाचे हे भेद श्रवण कर - ७. ...जो यज्ञ फलाकांक्षा न ठेवणारे, शास्त्रानुसार, व यज्ञ करणे कर्तव्य आहे या भावनेने, प्रसन्न अंतःकरणाने करतात तो सात्विक असतो - ११. अर्जुना, परंतु फलांत आसक्ति ठेवून, अथवा ( जनतेत ) दंभ प्रदर्शनाच्या हेतूने, जो यज्ञ केला जातो, त्या यज्ञाला तू राजस जाण - १२. शास्त्रविधिरहित, अन्नसमर्पणा-शिवाय, मंत्रोच्चारविना, दक्षिणा न देता, श्रद्धाहीन वृत्तीने केलेल्या यज्ञाला तामस म्हणतात - १३. ” तामस यज्ञ सर्वथा अनुचित, राजस यज्ञ उचित परंतु सकाम प्रेरित, आणि सात्विक यज्ञ उचित स्वरूपाचा व वैयक्तिक आसक्ति रहित असतो.

\*\*\*



कर्मणैव हि संसिद्धिमस्थिता जनकादयः ।

लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि ॥३-२०॥

“ कर्माचरण करूनच जनकादींनी सिद्धावस्था प्राप्त केली; आणि लोकांना इष्ट मार्गदर्शन करण्याची आवश्यकता ध्यानात घेऊनही ( समाजात वरिष्ठ स्तरावर असलेल्या तू ) ( आवश्यक ) कर्म करीत राहणे इष्ट आहे. ” ( परंतु जनकादींनी ज्ञानप्राप्ती पावेतोच कर्माचरण केले, किंवा त्यानंतरही चालू ठेवले, असे दोन्ही अर्थ या श्लोकाच्या प्रथम पंक्तीचे केले गेले आहेत. शंकराचार्य दोन्ही अर्थ देतात आणि द्वितीय अर्थ स्पष्टपणे अमान्य करीत नाहीत ). या श्लोकाच्या द्वितीय पंक्तीत पूर्ण ज्ञानी पुरुषानेही संपूर्ण कर्मत्याग न करण्यासाठी एक महत्त्वाचे कारण दिले आहे. त्याला स्वतःसाठी काही नको असले, तरी त्याने लोकांना कर्तव्यपालनार्थ स्वतःच्या कर्माचरणाने उचित मार्गदर्शन केले पाहिजे, अन्यथा समाज व्यवस्था बिघडून जाईल.

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः

स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥३-२१॥

“ ( समाजातला ) श्रेष्ठ मनुष्य जे जे आचरण करतो तसेच इतर ( सामान्य ) जन करतात; ( आपल्या आचरणाने ) तो जे प्रमाण घालून देतो त्यास अनुसरून लोक वागतात ”. आणि याच्या पुष्टीत श्रीकृष्ण स्वतःचे उदाहरण देतात -

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन

नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥३-२२॥

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः ।

मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥२३॥

उत्सीदयुस्मि लोका न कुर्या कर्म चेदहम् ।

संकस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥२४॥

“ अर्जुना ! तीनही लोकात माझे स्वतःचे ( माझ्या स्वतःच्या हितार्थ ) काही कर्तव्य नाही; अमुक एक वस्तु प्राप्त झाली नसून ती प्राप्त करून घ्यावयाची आहे असे काही नाही, पण तरीही मी कर्म करतच असतो - २२. अर्जुना, जर मी आळस त्यागून कर्म करत राहणार नाही, तर सर्व मानव माझ्या मार्गाचे अनुकरण करतील ( व आवश्यक कर्माचरण त्यागतील ) - २३. जर मी कर्माचरण करणार नाही तर संसारातील या लोकांची सारी जीवन व्यवस्था उद्ध्वस्त होऊन जाईल, मी अनाचाराचा प्रसारकर्ता ठरेन, आणि ( अंततोगत्वा ) माझ्यामुळे या ( सर्व ) मानवांचा विनाश होऊन जाईल. ” - २४

## प्रकरण - ७

### गीतेचा ' बुद्धियोग '

आदर्श जीवनात कर्माचे स्थान

या संबंधात दोन विरोधी मते विशेष प्रचलित आहेत. आद्य शंकराचार्यांच्या अनुसार गीतेत ' संन्यासयोग ' प्रतिपादित असून, अंतिम सिद्धावस्था सर्वकर्मसंन्यासस्वरूप आहे, सत्कर्मांनी चित्तशुद्धी होऊन ज्ञानावस्था प्राप्त झाल्यावर कर्माचरण अंतर्धान होऊन जाते.

या उलट टिळकांनी ( ' गीतारहस्य ' ग्रंथात ) म्हटले आहे की गीता मुख्यत्वे ' कर्मयोग ' प्रतिपादन करते, व तदनुसार योगी कर्मसंन्यास न करता आवश्यक कार्य कर्म निष्काम वृत्तीने शेवटपर्यंत करत राहतो.

याविषयी स्वतः गीतेत काय म्हटले आहे ते पाहू.

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्

कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥३-५॥

“ कोणीही कर्म केल्याशिवाय क्षणभर देखील राहत नाही; प्रकृतीच्या गुणांनी बांधले जाऊन सर्व प्राणी कर्म करीत असतात. ” या श्लोकात ( आणि ५-८, ९ व १८-१९ मध्येही ) नैसर्गिक शारीरिक क्रियाही समाविष्ट आहेत; परंतु आपण त्या नैसर्गिक क्रिया अलग ठेवून स्पष्ट ऐच्छिक कर्मांचे विवेचन करू. श्रीकृष्ण अर्जुनाला आदेश देतात -

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।

शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥३-८॥

“ तू नियत ( कार्य ) कर्म कर, ते त्यागण्यापेक्षा ( सकामही का होईना ) कर्म करणे इष्ट आहे; कर्माचरणाशिवाय तुझी जीवनयात्राही संचलित होणार नाही. ” परंतु कार्य कर्म निष्काम वृत्तीने करणे हा आदर्श मार्ग आहे. राजा जनकाचा उल्लेख करून श्रीकृष्ण म्हणतात -



सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।

कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥२५॥

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानं कर्मसङ्गिनाम् ।

जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ॥२६॥

“ अर्जुना, ज्या प्रकारे ( आपल्या ) कर्मात आसक्त राहून अज्ञानी ( सर्वसामान्य ) मानव ( कार्य ) कर्म करत असतात ती कर्मे लोकांना मार्गदर्शन करण्याच्या इच्छुक विद्वानाने अनासक्त वृत्तीने करावी - २५. ( अशा प्रकारे ) कर्मात आसक्त असणाऱ्या अज्ञानांचा ( ज्ञानी पुरुषाने ) बुद्धिभेद करू नये. ( त्यांना ती ( कार्य ) कर्मे करण्यापासून विचलित करू नये ); योगसंपन्न ( अनासक्त ) वृत्तीने आचरण करीत विद्वानाने ( सर्व-साधारण जनांना ) सर्व ( कार्य ) कर्मासाठी प्रेरित करावे - २६. ”

स्वतःच्या कर्माचरणाचा उल्लेख केल्यावर श्रीकृष्ण संसारात जेव्हा जेव्हा अधर्म फार प्रबल होतो, तेव्हा धर्म संस्थापना करणे हा आपल्या अवतारांचा आणि कर्माचा हेतु सांगून ( ४-७, ८ ) म्हणतात -

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः

त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥४-९॥

“ अर्जुना, माझ्या दिव्य ( अलौकिक ) जन्म व कर्मांमार्गील मूल तत्त्व जो याप्रमाणे जाणतो, तो मरणानंतर पुनर्जन्म न पावता मला येऊन मिळतो. ”

आणि या संदर्भात अर्जुनाला आदेश देतात -

न मां कर्माणि लिप्मन्ति न मे कर्मफले स्पृहा ।

इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥१४॥

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः ।

कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥१५॥

“ कर्मफलांत माझी इच्छा नाही, आणि मला कर्म लिप्त ( आसक्त ) करीत नाहीत; हे माझे स्वरूप जो जाणतो तो कर्माच्या ( आसक्तिरूप ) बंधनात पडत नाही - १४. हे ( माझ्या आचरणाचे स्वरूप ) ध्यानात घेऊन पुरातन मोक्षसाधकांनीही कर्म केली, म्हणून त्या पूर्वकालीन व्यक्तींनी पुरातनकाळी जसे कर्माचरण केले तसे तू देखील कर्माचरण कर. - १५ ” ( येथेही श्लोक १५ च्या प्रथम पंक्तीत ‘ मुमुक्षुभिः ’ शब्द असल्याने, त्यांनी ज्ञानप्राप्ती पावेतो कर्म केले असा आशय संभव असला, तरी श्लोक १४ मध्ये श्रीकृष्णांनी स्वतःचे उदाहरण दिले असल्याने त्या मुमुक्षूंनी ज्ञानप्राप्ती नंतरही ( निष्काम निरहंकार ) कर्माचरण चालू ठेवले असा आशय उचित आहे. )

गीतेत प्रत्यक्ष ‘ संन्यास योग ’ ( सर्वकर्म संन्यास ) प्रतिपादित नाही

श्लोक ५-३ मध्ये ‘ नित्य संन्यासी ’ ला सर्वकर्मत्यागी न म्हणता सर्व वैयक्तिक इच्छा-द्वेष त्यागणारा असे म्हणून, श्रीकृष्ण गीतोक्त योगीचे हे वर्णन देतात-

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः ।

सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्निति न लिप्यते ॥५-७॥

“ योगसंपन्न, विशुद्ध चित्त, मनाला व इन्द्रियांना जिकणारा आणि सर्व प्राण्यात ( तत्त्वतः ) स्वतःला अनुभव करणारा व्यक्ति ( कार्य ) कर्म करत असताही ( स्वर्ग प्राप्ती, पुनर्जन्म आदि ) बंधनात पडत नाही. ” असा योगी कर्म करतो, पण तें आसक्तिरहित वृत्तीने आणि निरहंकार वृत्तीने -

नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्वचित् ।

पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्प्रश्नश्चछन्स्वपञ्शसन् ॥८॥

प्रलपन्विस्मृजन्नुद्बुध्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥९॥

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।

लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥१०॥

“ योगयुक्त तत्त्वैत्या पुरुषाने पाहताना, ऐकताना, स्पर्श करताना, वास घेताना, खाताना, चालताना, झोप घेताना, श्वास घेताना, बोलताना, विसर्जन करताना, ग्रहण करताना आणि पापण्यांची उघडझाप होतानाही, मी ( मूलतः ) काही करत नसून इन्द्रियांचा आपापल्या विषयांच्या ठायी व्यवहार चालला आहे असे समजावे - ८-९. जो आपले कर्म ‘ ब्रह्मा ’ ला अर्पण करून, आसक्ति त्यागून करतो, तो ज्याप्रमाणे कमलपत्राला पाणी चिकटत नाही त्याप्रमाणे पापाने लिप्त होत नाही. - १० ” आपले कर्म ब्रह्मार्पण करणारा हा योगी कर्म प्रत्यक्ष न त्यागता सर्व आसक्ति त्यागून ‘ करोति ’ म्हणजे करतो.

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि ।

योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये ॥११॥

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।

अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥१२॥

“ योगी चित्तशुद्धी कायम ठेवण्यासाठी निष्कामतापूर्वक शरीराने, मनाने, बुद्धिने अथवा केवळ इन्द्रियांनीही कर्म करत असतात. - ११ योगयुक्त व्यक्ती कर्मफलत्याग करून परम शांति प्राप्त करून घेतो, ( उलट ) योगरहित मनुष्य



कामवासनेमुले फलाच्या ठायी आसक्त होऊन बंधनात पडतो. - १२”

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी ।

नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥१३॥

“ देहाचा स्वामी ( आत्मा ) सर्व कर्मा ( विषयी आसक्ति )चा मनाद्वारे संन्यास करून नऊ द्वाारांच्या देहरूप नगरात ( तत्त्वतः ) काहीही न करता व कावता ( विशुद्ध ) सुखात निवास करतो. ” ( पाहा - श्वेताश्वतर उपनिषद ३-१८, “ नवद्वारे पुरे देही हंसो लेलायते बहिः । वशी सर्वस्य लोकस्य स्थावरस्य चरस्यच ” ) . गीतेच्या या श्लोकाचा आशय याला लागून पूर्वी आलेल्या श्लोकाच्या संदर्भात पाहिला पाहिजे. कर्माचा संन्यास प्रत्यक्ष नसून मनाद्वारे कारायचा आहे; त्यांचे कर्तृत्व ईश्वरार्पण कारायचे आहे.

गीतेत सर्वकर्मसंन्यासाचा आग्रह नाही हे अध्याय १८ च्या प्रारंभी आलेल्या श्लोकांवरूनही दिसून येते. अर्जुन श्रीकृष्णास म्हणतो - संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम् ।

त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन ॥१८-१॥

“ महाबाहो केशिनिषूदन श्रीकृष्णा, मी संन्यास व त्याग यांचे वास्तविक स्वरूप वेगवेगळे जाणू चाहतो. ” उत्तरात श्रीकृष्ण म्हणाले-

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः ।

सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥२॥

“ कामभावनेने प्रेरित कर्मांना ( फलप्राप्तीची आकांक्षा टाकून करण्याऐवजी ) त्यागले जाते त्याला विद्वान् संन्यास ’ म्हणतात, आणि ( अशाप्रकारे सकाम कर्मांना प्रत्यक्ष त्यागण्याऐवजी ) समग्र कर्मांचा फलत्याग करण्याला विद्वान् त्याग ’ म्हणतात. ”

हे काही विद्वानांचे मत झाले. अन्य कोणी या शब्दांचा काहीसा निराळा अर्थ करीत असतील. श्रीकृष्ण म्हणाले,

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः ।

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे ॥३॥

“ अन्य काही विद्वान् ( संन्यासयोगवादी ) म्हणतात की कर्मांचे आचरण ( शरीरद्वारा होत असल्याने ) मूलतः सदोष असते म्हणून ( संपूर्ण प्रत्यक्ष ) त्याग करावे, तर आणखी इतर कोणी म्हणतात की, यज्ञ, दान व तप या कर्मांचा त्याग उचित नव्हे. ” इतके सांगून श्रीकृष्ण स्वतःचे मत प्रतिपादन करतात -

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागो भरतसत्तम ।

त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः संप्रकीर्तितः ॥४॥

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।  
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥५॥  
एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च ।  
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥६॥

“ भरतकुलश्रेष्ठ वीर अर्जुना, या संदर्भात ’ त्याग ’ विषयी माझे निश्चित मत श्रवण कर. त्याग तीन प्रकारचा म्हटला जातो - ४. यज्ञ, दान व तप ही कर्मे त्याज्य नसून कार्यच आहेत ( अवश्य केली पाहिजेत ); यज्ञ, दान आणि तप ही नियंत्रित मनाच्या व्यक्तीला पावनकारक आहेत - ५. ( मात्र ) ही कर्मे करावयाची ती देखील त्याज्यविषयीच्या आसक्तीचा व त्यांच्या फलांचा त्याग करून करावी असे, अर्जुना, माझे निश्चित व उत्तम मत आहे. - ६. ” यात श्रीकृष्णांनी यज्ञ, दान व तप यांचा प्रत्यक्ष त्याग अनुचित सांगून ( श्लोक ३ च्या प्रथम पंक्तीत उल्लेखित ) सर्वकर्मत्याग पक्ष अमान्य केला आहे.

गीता यज्ञ व तप यांचे व्यापक अर्थ करते. ‘ यज्ञ ’चे विविध आशय अध्याय ४ मध्ये दिले असून, तपाचे विविध प्रकार श्रीकृष्ण असे सांगतात. देवद्विजगुरूप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।

ब्रह्मचर्यमहिंसा च शरीरं तप उच्यते ॥१७-१४॥

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।

स्वाध्यायाभ्यासनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥१५॥

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।

भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥१६॥

“ देवपूजन, द्विजत्वगुणी व्यक्ती, ज्ञान देणारे गुरू, विद्वान् यांचा आदर, शुद्धता, सरलवृत्ती, ब्रह्मचर्य व अहिंसा, याला शारीरिक तप म्हटले आहे - १४. दुसऱ्याच्या हृदयास न दुखविणारे, सत्य, हितकारी, प्रिय भाषण आणि ज्ञानार्जनाचा नित्य अभ्यास, याला वाचिक तत्त्व म्हणतात - १५. मनाची प्रसन्नता, सौम्यवृत्ती, ( आवश्यक तितके बोलून ) मौन, आत्मनियंत्रण, शुद्ध भावना असे हे मानस तप म्हटले जाते. ” - १६

यज्ञ, दान व तप ही वैयक्तिक कार्ये कर्मे आहेत. याशिवाय व्यक्तीची विशिष्ट सामाजिक कर्तव्येही असतात. म्हणून पुढील श्लोकात सर्व नियत कर्मांना ध्यानात घेऊन श्रीकृष्ण त्यांचा ‘ संन्यास ’ अनुचित म्हणतात, आणि ‘ त्याग ’ शब्द प्रथम रुढार्थाने व शेवटी स्वतःच्या विशिष्ट आशयाने घेऊन ‘ त्याग ’चे तीन प्रकार दर्शवितात -



नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते ।

मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ॥१८-७॥

“नियत (कार्य) कर्माचा त्याग उचित नाही, त्याचा मोहवश त्याग तामस म्हटला जातो.” अर्जुन असाच त्याग करू चाहत होता.

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्सजते ।

स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत ॥८॥

“जर (अकार्य, काम्य) कर्म दुःखदायक आहे एवढ्यासाठीच शारीरिक भयाच्या कारणाने कोणी त्यागले, तर त्याचा हा त्याग (न्यास) राजस होऊन त्याला वास्तविक त्यागाचे फल (श्रेय) प्राप्त होणार नाही.” जेलच्या भीतिने चोरी करणे टाळते तो प्रत्यक्ष चोरी करणाऱ्यापेक्षा चांगला म्हटला, तरी त्याचे आचरण सात्त्विक न होता राजस होईल. चोरी मूलतःच अनैतिक आहे असे ध्यानात घेऊन तिचा केलेला ‘न्यास’ (त्याग) सात्त्विक होईल. (काही अनुवादक या श्लोकाचा संबंध कार्यकर्माच्या त्यागाशी लावतात; पण तसा अर्थ केल्याने “नैव त्याग फलं लभेत” शब्दात विशेषता राहणार नाही, आणि कार्य कर्माचा शारीरिक दुःखाच्या भयाने केलेला त्याग तामस होईल, राजस नाही.)

यानंतर गीतोक्त वास्तविक ‘त्याग’ स्पष्ट करीत श्रीकृष्ण म्हणतात-  
कार्यामित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन ।

सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ॥९॥

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशलं नानुषजते ।

त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ॥१०॥

“अर्जुना, जेव्हा नियत (कार्य) कर्म, ते कार्य आहे एवढ्यासाठीच आणि त्याच्या ठायी आसक्ति व फलाचाही त्याग करून केले जाते, तेव्हा तो त्याग सात्त्विक म्हटला जातो - ९. त्यागी (अनासक्त), सत्त्वगुणी व पूर्ण संशयरहित ज्ञानी व्यक्ती (कार्य) कर्म दुःखकारक असूनही (केवळ त्या कारणाने) त्याचा तिरस्कार करीत नाही, आणि सुखकारक कर्मात आसक्त होत नाही. - १०” वास्तविक त्यागाचा आशय कार्य कर्माचा प्रत्यक्ष त्याग असा नसून, ते सुखदायक असले तर त्याच्या सुखी परिणामात वैयक्तिक आसक्ति, व दुःखद असेल तर त्याच्यासाठी उद्दिष्टता, टाळून ते करणे असा आहे.

श्रीकृष्ण समुचित समारोप करतात -

न हि देहभूता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ।

यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥११॥

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम् ।

भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित् ॥१२॥

“देहधारी (मानव) कर्माचा संपूर्ण त्याग करू शकत नाही, पण जो कर्मफलाचा त्याग करतो त्याला (वास्तविक) त्यागी म्हणतात - ११. कर्माचे अनिष्ट (दुःखप्रद), इष्ट (सुखप्रद) व इष्टानिष्ट (सुखदुःखात्मक मिश्र) असे तीन प्रकारचे फल अत्यागी म्हणजे कर्माच्या फलाचा त्याग न करणाऱ्याला (जिवंतपणीच प्राप्त न झाल्यास) मेल्यावर प्राप्त होते, परंतु ज्याने फलाकांक्षेचा त्याग केला आहे त्याला ते कधीही प्राप्त होत नाही. (बंधनात पाडू शकत नाही)” - १२

परंतु श्रीकृष्णांच्या उक्त ‘निश्चित उत्तम’ मताचा काहीजणांनी विपर्यास केला आहे. श्लोक १८-३ च्या प्रथम पंक्तीत उल्लेखित सर्वकर्म-त्यागाचा पक्ष वस्तुतः शंकराचार्यांचा आहे, आणि तो श्रीकृष्णांनी अमान्य केला आहे. त्या अमान्यतेपासून स्वतःला सोडविण्यासाठी शंकराचार्य म्हणतात की, तेथे उल्लेखित ‘एके मनीषिणः’ (काही विद्वान) ते अतिवादी सांख्यमार्गी आहेत जे केवळ कर्माचरणाचा अधिकार असणाऱ्या (अज्ञानी) व्यक्तीवर देखील सर्वकर्मसंन्यास शोषू चाहतात (आणि गीतेने त्यांचा पक्ष अमान्य केला असून ज्ञानीसाठी सर्वकर्मसंन्यास अमान्य केला नाही). तसेच श्लोक १८-११ ची प्रथम पंक्ती सर्व मानवांसाठी असून, शंकराचार्य तेथे ‘देहभूत’चा अर्थ देहात्मवादी (देहालाच आत्मा मानणारे अज्ञानी) असा करून, ती पंक्ती ज्ञानी व्यक्तीसाठी नाही असे म्हणतात, “देहात्माभिवान् देहभूत उच्यते, न विवेकी”. हे स्पष्टीकरण उचित नाही व संदर्भानुकूलही नाही. ‘देहभूत’ शब्द श्लोक १४-१४ मध्येही आला असून त्याचा अर्थ ‘देहात्मवादी अज्ञानी’ असा नाही. या बरोबरच हे श्लोकही पाहा -

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप ।

सर्व कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥४-३३॥

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।

ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥३७॥

या श्लोकांत ‘सर्व कर्माखिलं ज्ञाने परिसमाप्यते’, ‘ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते’ अशी वचने पाहून गीतेनुसार ज्ञानप्राप्तीनंतर सर्व कर्मांचा प्रत्यक्ष त्याग होतो अशा आशयाचा अनेकांना भास होतो. परंतु या श्लोकांचा वास्तविक अर्थ हा आहे, “अर्जुना, (केवळ) द्रव्यमय यज्ञापेक्षा ज्ञानयज्ञ श्रेयस्कर आहे; (सर्वोच्च) ज्ञानाच्या अवस्थेत सर्व कर्मांचे ‘आसक्ति’ स्वरूप संपूर्ण समाप्त होते. (परमेश्वर स्वरूपाची अनुभूति प्राप्त करून घेऊन



त्या ज्ञानाला अनुरूप आचरणाने ईश्वर उपासनेत मग राहणे हा ज्ञानयज्ञ होय)  
- ३३. अर्जुना, ज्या प्रकारे प्रज्वलित अग्नि काष्ठे भस्म करतो त्या प्रकारे  
( सर्वोच्च ) ज्ञानरूप अग्नि सर्व कर्मांना, ( त्यांच्या आसक्ति स्वरूपाला )  
भस्म करतो. - ३७”

योगसंन्यस्तकर्माणां ज्ञानसंछिन्नसंशयम् ।

आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ॥४१॥

“ अर्जुना, ( समत्वबुद्धि स्वरूप ) योगमार्गाने कर्मा ( त आसक्ति ) चा  
संन्यास करणारा, व ( सर्वोच्च ) ज्ञानाने ज्याचे अज्ञान नष्ट झाले आहे अशा  
आत्मज्ञानी व्यक्तीला कर्मे ( आसक्तिरूप ) बंधनात टाकत नाहीत. ” अशा  
व्यक्तीला स्वतःच्या लाभार्थ काही करणे नसते, आणि परोपकारासाठीही  
जरी तो आवश्यक कर्मे करतो, तरी कर्माचरण करीत राहीन असा आग्रह  
त्याचे ठायी नसतो. काही भाष्यकार या श्लोकात ज्ञानसंपन्न योगी सर्व कर्मांचा  
प्रत्यक्ष संन्यास ( त्याग ) करतो असा आशय पाहतात. परंतु श्लोक १-९  
मध्येही श्रीकृष्ण स्वतःला “ कर्माणि न निबध्नन्ति ” असे म्हणत असले,  
तरी मी संसाराच्या हितार्थ कर्मे करत असतो असेही सांगतात. अर्थात  
ज्ञानप्राप्त व्यक्तीनेही प्रत्यक्ष सर्वकर्मत्याग करणे त्यांना मान्य नाही. आणि हे  
श्लोक ४-४१ला लागूनच येणाऱ्या पुढील श्लोकावरूनही स्पष्ट आहे.

तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः

छित्त्वेन संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥४-४२॥

“ यासाठी आपल्या हृदयातील हा अज्ञानोद्भव संशय ज्ञानरूपी खड्गाने  
छेदून टाकून योगात स्थित होऊन ( या बुद्ध्यासाठी ) उभा राहा. ” यात  
श्रीकृष्णांनी अर्जुनाला ‘ उत्तिष्ठ ’, ऊठ, योद्ध्याच्या भूमिकेत उभा रहा,  
असे विशेषरूपाने यासाठी म्हटले की, सुरवातीस अर्जुन शोकमोहग्रस्त होऊन  
रथात आपल्या जागी बसून गेला होता ( ‘ रथोपस्थ उपाविशत् ’ १-४७ ).  
‘ यातील ’ तस्मात् ’ हा आरंभीचा शब्द दर्शवितो की, अर्जुनाला दिलेला हा  
‘ उत्तिष्ठ ’ आदेश यापूर्वी दिलेल्या ज्ञानसाधनेच्या व योगाच्या उपदेशाला  
अनुसरून आहे, त्याच्या विरोधात नाही. श्रीकृष्णांनी अर्जुनाला सर्वोच्च  
ज्ञानोपदेशाशिवाय प्रत्यक्ष विश्वरूपदर्शन दिल्यावरही कर्मत्यागाचा नव्हे तर  
ते युद्ध करण्याचा आदेश दिला.

सारांश, गीतेचे प्रतिपादन असे आहे की, सर्वकर्मत्याग न करता,  
प्राप्त परिस्थितीत आवश्यक कार्यकर्मे अनासक्त वृत्तीने केली जावी. असे  
जीवन व्यतीत करणाऱ्याला श्रीकृष्ण वास्तविक संन्यासी व योगी म्हणतात  
( ६-१ ).

१०० \* गीता तत्त्व दर्शन

पण तरीही सर्वकर्मसंन्यासवादी आणखी एका श्लोकाचा विशेष  
आधार घेऊ पाहतात.

यस्त्वात्मपरितरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।

आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥३-१७॥

“ परंतु, जो मानव आत्मचिंतनातच ‘ रत ’, आत्ममननांत तृप्त, व आपल्या  
ठायीच संतुष्ट असतो, त्याला ( स्वतःसाठी ) काहीही कर्मे करणे नसते. ”  
यात शंकराचार्य ‘ तस्य कार्यं न विद्यते ’ याचा आशय ‘ ज्याच्यासाठी  
( ज्ञानी आत्मनिष्ठ पुरुषासाठी ) काहीही कर्मे करणे रहात नाही ( तो सर्वकर्म  
परित्याग करतो ) ’ असा घेतात. परंतु यावर टिळकांचे विवेचन उचित आहे.  
अशा आत्मवृत्त ज्ञानी व्यक्तीला स्वतःच्या लाभार्थ काही करणे आवश्यक  
नसेल ( ३-१८ ), तरी तो समाजहितार्थ कर्मे करू शकतो. मुण्डक उपनिषदात  
“ आत्मरतिः ब्रह्मविदां वरिष्ठः ” व्यक्तीला ‘ क्रियावान् ’ असेही म्हटले  
आहे ( ३-१-४ ).

गीतेत आमरण कर्माचरणाचाही आदेश नाही.

प्राप्त परिस्थितीत संसारहितार्थ आवश्यक कर्म गीतेचा योगी कोले;  
पण शेवट पावेतो कर्म करतच राहीन अशी त्याची आग्रही वृत्ती असणार  
नाही. व्यक्ती साधक अवस्थेत असतो तोपावेतो त्याने निष्कामतापूर्वक  
( कार्य ) कर्माचरण करीत राहिले पाहिजे. परंतु, अंतःकरणांत साम्यवृत्ती  
स्थिर झाली म्हणजे वृत्ती ‘ शम ’ धारण करते.

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते ।

योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥६-३॥

“ योगसाधना करणाऱ्या मुनीसाठी ( चित्तशुद्धीकारक ) कर्माचरण  
आवश्यक साधन सांगितले आहे; परंतु त्याने पूर्ण योगावस्था प्राप्त केल्यावर  
त्याच्यासाठी ( कर्मप्रवृत्तीचा ) उपशम आवश्यक लक्षण सांगितले आहे. ”  
येथे द्वितीय पंक्तीत योगारूढाच्या ‘ शम ’ वृत्तीचा उल्लेख असून, तिच्या  
अनुसार संसारहितार्थ आवश्यक कर्म केले जाईल. परंतु, त्या कर्माचरणा-  
साठी आग्रह अथवा आसक्ति असणार नाही. हे स्पष्ट करीत श्रीकृष्ण  
म्हणतात,

यदा हि नंद्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्यते

सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥६-४॥

“ जेव्हा साधक इंद्रियांच्या ( सुखदुःखकारक ) विषयांमध्ये, व ( शिवाय )  
कर्माचे ( हि ) ठायी, आसक्त न होऊन आपल्या सर्व तृष्णास्वरूप इच्छांचा

गीता तत्त्व दर्शन \* १०१



संन्यास करतो तेव्हा तो योगारूढ झाला असे म्हणतात. ” यात पूर्ण योगी “न इन्द्रियार्थेषु” व “न कर्मसु” ( अनुषज्जते ) असे अलग अलग म्हटले आहे. फलासक्तीबरोबरच कर्माचरणामाठीही आसक्ति त्यागण्याचा आदेश श्लोक १८-९ व २३ मध्येही आहे. परंतु, त्याचा आशय सर्वकर्मपरित्याग नाही. स्वतःचे उदाहरण देऊन श्रीकृष्ण म्हणतात,

न च मां तानि कर्माणि निबन्धन्ति धनंजय ।

उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥९-९॥

“ अर्जुना, मी त्या ( सृष्टिनिर्मितीच्या ) कर्मांचे ठायी अनासक्त व उदासीनासारखा असल्याने ती कर्मे मला बंधनकारक होत नाहीत. ”

टिळक गीतेत दोन स्थितप्रज्ञ मानतात - कर्मयोगी स्थितप्रज्ञ व संन्यासी स्थितप्रज्ञ. “ कर्मयोगी स्थितप्रज्ञ आणि संन्यासी स्थितप्रज्ञ या दोहोंचे ब्रह्मज्ञान, शान्ति, आत्मौपम्य व निष्कामबुद्धि, अगर नीतितत्त्वे निरनिराळी असतात असे नाही. दोघेही पूर्ण ब्रह्मज्ञानी असल्यामुळे दोघांची मानसिक स्थिती व शान्ति एकसारखीच असत्ये, पण यापैकी एक नुसत्या शान्तीतच गढून जाऊन इतर कशाचीही फिकीर करीत नाही, आणि दुसरा आपल्या शान्तीचा व आत्मौपम्य बुद्धीचा व्यवहारात यथासंभव नित्य उपयोग करीत असतो, असा कर्मदृष्ट्या या दोहोत महत्त्वाचा फरक आहे. ( गीतारहस्य अथवा कर्मयोगशास्त्र - पृ. ३७२ ) ” परंतु, ‘ कर्मयोगी स्थितप्रज्ञ ’ व ‘ भिन्न संपूर्ण कर्मत्यागी संन्यासी स्थितप्रज्ञ ’ अशा दोन वेगवेगळ्या धारणांना गीतेत काय आधार आहे ? गीता वास्तविक संन्यासी कार्यकर्माचा प्रत्यक्ष त्याग करत नाही असे म्हणते ( ६-१ ) ; आणि सांख्य व योग यांचा समन्वय करीत श्रीकृष्ण म्हणतात,

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव ।

न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन ॥६-२॥

“ अर्जुना, ज्याला ‘ संन्यास ’ असे म्हटले आहे त्याला ‘ योग ’ असेही जाण; कारण संकल्पांचा ( सकाम फलाकांक्षांचा ) संन्यास ( त्याग ) केल्याशिवाय कोणी ( वास्तविक ) योगी होत नाही. ” अध्यात्मज्ञानसंपन्न, ईश्वरध्यानयुक्त, साध्वचित्त आणि प्राप्त परिस्थितीस अनुसरून संसारहितार्थ आवश्यक कार्याकर्मांचे “ सर्वेषु कालेषु ” ( ८-७, ८-२७ ) निष्काम निरहंकार निरासक्त आचरण हे स्थितप्रज्ञतेचे एकच आदर्श स्वरूप श्रीकृष्णांनी प्रतिपादन केले आहे. श्रीकृष्ण म्हणतात,

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।

निराशीनिर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥३-३०॥

१०२ \* गीता तत्त्व दर्शन

“ अध्यात्मज्ञानयुक्त अंतःकरणाने सर्व कर्मांचा माझ्या ठायी संन्यास करून ( सर्व कर्मांचे मूलकर्तव्य माझ्या ठायी अर्पण करून ) आणि आशा ममतेचा त्याग करून, निःशंकपणे हे युद्ध कर. ”

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः ।

श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ॥३१॥

“ जे श्रद्धायुक्त शुद्धचित्त व्यक्ती माझ्या या उपदेशाचे नित्य पालन करतात ते ( आवश्यक कार्य कर्मे करीत असताही ) कर्म ( सतत करत राहण्याच्या ) बंधनापासून मुक्त असतात. ” श्लोक ३० मध्ये अध्यात्मज्ञानयुक्त कर्मसंन्यासवृत्तीपूर्वक, निष्काम निरहंकार मनाने ते ( न्याय्य ) युद्ध करण्याचा अर्जुनाला आदेश दिला असून, त्या संदर्भात हा श्लोक ३१ आला आहे हे पाहता, यातील “ कर्मभिः अपि मुच्यते ” चा आशय सर्वकर्मपरित्याग नसून, आवश्यक असेल तेव्हा कर्म, परंतु अखंड कर्माचरणाच्या आग्रहापासून मुक्त असणे, असा आहे. कर्मबंधनापासून अशाप्रकारे मुक्त राहण्याचा उल्लेख श्लोक २-३९ व ४-१४ मध्येही आहे. ही आवश्यक कर्माचरण करीत असता वास्तविक नैष्कर्म्य अवस्था आहे; हिलाच श्लोक ६-३ मध्ये योगारूढाची ‘ शम ’ अवस्था म्हटले आहे.

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम् ।

सर्वज्ञानविमूढास्तांन्विद्धि नष्टानचेतसः ॥३२॥

“ परंतु, जे माझ्या या उपदेशावर व्यर्थ आरोप घेऊन त्याचे पालन करीत नाहीत, ते वास्तविक ज्ञानाचा संपूर्ण विपर्यास करणारे अविवेकी ( श्रेय प्राप्तीच्या दृष्टीने ) अधःपाताला जातात हे जाण. ”

कर्मयोग आणि कर्मसंन्यास

आता या साऱ्या संदर्भात श्लोक ५-१, २ वर विचार करू. अर्जुन म्हणाला,

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि

यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥५-१॥

“ कृष्णा, तू एकदा कर्मसंन्यासाची तर पुनः कर्मयोगाची प्रशंसा करतोस. यापैकी कोणते एक श्रेयस्कर आहे ते मला अगदी निश्चितपणे सांग. ” श्रीकृष्णांनी उत्तर दिले -

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकराबुभौ

तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥५-२॥

“ कर्मसंन्यास व कर्मयोग दोन्ही ( एकत्र मिळून ) मोक्षदायक आहेत; परंतु

गीता तत्त्व दर्शन \* १०३



( त्या दोघांत ) सामान्य मानवाला कर्मसंन्यासापेक्षा कर्मयोग विशेष सुलभ आहे. ” या श्लोकात निर्दिष्ट संन्यास व कर्मयोग स्वतः मोक्षस्वरूप नसून ‘निःश्रेयसकर’ म्हणजे ‘मोक्षाला घेऊन जाणारे’ मार्ग आहेत. पण जेव्हा श्रीकृष्ण

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव ।

न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन ॥६-२॥

“ अर्जुना, ज्याला ‘संन्यास’ असे म्हटले आहे त्याला ‘योग’ असेही जाण; संकल्पांचा ( सकाम फलाकांक्षांचा ) संन्यास ( त्याग ) केल्याशिवाय कोणी ( वास्तविक ) ‘योगी’ होत नाही ” असे म्हणतात, तेव्हा अंतिम सिद्धावस्था दिदर्शित आहे. यात उल्लेखित ‘योग’ साधनरूप कर्मयोगापेक्षा वरिष्ठ आणि संन्यासही साधनरूप कर्मसंन्यासमार्गाच्या अतीत आहे. दोन्ही साधनमार्ग शेवटी परस्परगत मिळून जातात ( ५-४, ५ ) .

सर्वसामान्य साधकासाठी प्रारंभी कर्मसंन्यासापेक्षा कर्मयोग अधिक चांगला ( सुलभ ) आहे हा श्लोक ५-२ च्या द्वितीय पंक्तीचा आशय आहे. सुरवातीपासूनच कर्मसंन्यासाचा प्रयास करण्यात वास्तविक संन्यासाऐवजी ‘मिथ्याचार’ अधिक संभव आहे ( ३-६ ) .

न कर्मणामनारम्भात्तैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्रुते ।

न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥३-४॥

“ कर्माचरणाचा आरंभच न करण्याने मानवाला ( वास्तविक ) नैष्कर्म्य अवस्था प्राप्त होते असे नाही; आणि केवळ संन्यासाने तो ( परम ) सिद्धी प्राप्त करत नाही. ” नैष्कर्म्य सिद्धीचा मार्ग कर्माचरणातून जातो. गीतेच्या अनुसार वास्तविक नैष्कर्म्य अवस्था संपूर्ण कर्मत्यागस्वरूप नसून, कर्मप्रवृत्तीच्या आसक्ति स्वरूपाचा त्याग आहे.

उक्त दोन्ही पक्ष स्वतः निःश्रेयस ( मोक्ष ) नसून ‘निःश्रेयसकर’ ( मोक्षाला नेणारे मार्ग ) आहेत. इतकेच नव्हे तर त्यातील प्रत्येक अलग अलग पूर्णतः तसा नसून, ‘उभौ’ ( ५-२ ) म्हणजे दोन्ही मिळून परस्पर-सहयोगाने ‘निःश्रेयसकर’ होतात. कर्मयोगाने प्रारंभ करणाऱ्याला नंतर कर्मप्रवृत्तीचा आग्रह सोडून आवश्यक कर्म करीत असताही ‘सर्वसंकल्प-संन्यासी’ ( ६-४ ) झाले पाहिजे, आणि कर्मसंन्यासाने आरंभ करणाऱ्यालाही संपूर्ण कर्मत्यागाची भूमिका सोडून सर्व कर्मांना “ मनसा संन्यम्य ” ( ५-१३ ) साम्यवृत्तीपूर्वक संसारहितार्थ आवश्यक कर्मे केली पाहिजे.

संन्यास व योगाचा एकत्र उल्लेख करून श्रीकृष्ण म्हणतात,

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमासुमयोगतः ।

योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति ॥५-६॥

“ अर्जुना, ( वास्तविक ) संन्यास ( साम्यवृत्तीरूप ) योगाशिवाय साध्य होणे फार कठीण आहे; योगवृत्ती संपन्न ( संन्यासमार्गी ) मुनि परब्रह्माला शीघ्र प्राप्त होतो. ”

यत्करोषि यदश्रासि यजुहोपि ददासि यत् ।

यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥९-२७॥

शुभाशुभफलैरेवं मोक्षयसे कर्मबंधनैः ।

संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥९-२८॥

“ अर्जुना, ( यज्ञात ) तू जी आहुती देशील, जे दान देशील, जे तप करशील, जे अन्न खाशील आणि जे ( अन्य नियत ) कर्म करशील, ते सर्व मला अर्पण कर - २७. अशाप्रकारे कार्य कर्माचरण त्याच्या ( स्वर्गप्राप्ती, सुखी पुनर्जन्म आदि ) शुभफलांपासून, व ( अशा कर्मातही जे अनिवार्य दोष असतील, पाहा १८-४६, त्यांच्या ) अशुभ फलांपासून, आणि कर्मप्रवृत्तीच्या ( आग्रही ) बंधनापासून मुक्त रहाशील, आणि ( वास्तविक ) संन्यास व योग अवस्था प्राप्त करून ( संसार चक्रापासून ) पूर्ण मुक्त होऊन मला ( परमेश्वराला ) घेऊन मिळशील. ” - २८

सर्वोच्च योगावस्था

अशाप्रकारे गीतेत ‘योग’ प्रत्यक्ष सर्वकर्मत्याग स्वरूप नाही, आणि आमरण आग्रहपूर्वक कर्माचरण स्वरूपही नाही. गीता योगी पुरुषाचे हे मार्मिक वर्णन देते -

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।

न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥३-१८॥

“ त्याचा ( आत्मतृप्त योगी सिद्धाचा ) या संसारात कर्म करण्यात व न करण्यात स्वतःचा काही लाभ नसतो; आणि कोणाही प्राण्यापासून त्याला काहीही लाभाची अपेक्षा नसते. ” ( यात प्रथम चरणातील ‘नाकृतेनेह कश्चन’चा आशय ‘कर्म न करण्याने ही त्याला स्वतःला काही लाभ होत नाही’ असा आहे; पण आपल्या कर्मसंन्यास मताच्या पुष्टीसाठी शंकराचार्य त्या चरणाचा ‘कर्म न करण्याने त्याला काही हानी होत नाही’ असा उलटा अर्थ देतात; वस्तुतः गीतेत योगी कर्म करणे व न करणे या द्वंद्वाबद्दल उदासीन असतो. ) श्रीकृष्ण म्हणतात,



योगार्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय ।  
सिद्धयसिद्धयोः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥२-४८ ॥  
दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय ।

बुद्धी शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥४९॥

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।

तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥५०॥

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।

जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥५१॥

“ अर्जुना, योगवृत्तीत चित्त स्थिर करून, आसक्ति त्यागून, कर्म प्रत्यक्षात सिद्ध होवो वा न होवो या विषयी समान ( निर्विकार ) दृष्टी ठेवून, ( कार्य ) कर्म करत जा; चित्ताच्या साम्यावस्थेला ‘ योग ’ म्हणतात - ४८. अर्जुना, ( ज्यात कार्य कर्माचे निष्काम आचरण होते अशा साम्यवृत्तीस्वरूप ) ‘ बुद्धियोगा ’ पेक्षा ( सकाम ) कर्म फार निष्कृष्ट आहे, तू समत्व बुद्धी ठेव; ‘ फल ’ ( वैयक्तिक सुखरूप परिणाम ) प्राप्त होण्यासाठी कर्म करणारे हीन वृत्तीचे, वास्तविक श्रेय न जाणणारे, असतात - ४९. ( साम्यवृत्तीयुक्त ) बुद्धियोगी इहलोकात पापदायक दुष्कर्म आणि ( सकाम ) सत्कर्मचे पुण्यफल या दोहोंचा त्याग करतो, म्हणून ( अर्जुना ) तू ( या ) योगाची साधना कर; ( कार्य ) कर्म करीत असता ( अशी ) योगवृत्ती ठेवण्यात ( वास्तविक ) कल्याण ( हित ) आहे - ५०. मनाला संयमित ठेवणारे ( साम्यवृत्तीयुक्त ) बुद्धिसंपन्न व्यक्ती कर्मफलाचा त्याग करून जन्म बंधनापासून पूर्ण मुक्त होऊन ( परम ) विशुद्ध स्थान ( गति, अवस्था ) प्राप्त करतात. ” - ५१

गीता एखाद्या कर्माविषयी मनातील इच्छेचे दमन करून होणारी ‘ बाह्य अकर्मावस्था ’, आणि ( कार्य ) कर्म अनासक्तिपूर्वक करण्याने होणारी ‘ मानसिक अकर्मावस्था ’ यात सूक्ष्म भेद करते.

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः ।

तते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्षयेऽशुभात् ॥४-१६ ॥

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः ।

अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥४-१७ ॥

“ कर्म ( वास्तविक स्वरूपात ) काय आहे व अकर्म काय आहे, या विषयी विद्वानही भ्रमात पडतात. मी तुला ते कर्म ( त्याचे वास्तविक स्वरूप ) सांगतो, जे जाणल्याने तू अशुभापासून ( अकल्याणकारी आचरणापासून ) मुक्त राहशील - १६. कर्म, विकर्म ( विपरीत अकार्य कर्म ) आणि ‘ अकर्म ’

( आंतरिक अकर्मावस्था ) यांचे मूळस्वरूप जाणणे आवश्यक आहे, ‘ कर्म ’ ची गति ( वास्तविक स्वरूप ) गहन ( फार सूक्ष्म ) आहे ” - १७. कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्माणि च कर्म यः ।

स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥४-१८ ॥

“ कर्माचरणात ( मनात त्याच्याविषयी पूर्ण अनासक्ती असेल तेव्हा आंतरिक ) अकर्मावस्था, आणि बाह्यतः अकर्म अवस्थेत ( मनात आसक्ती असल्यास आंतरिक ) कर्माचरणाची अवस्था जो पाहतो, तो ( वास्तविक ) बुद्धिमान मानव आहे, तो सर्व ( कार्य ) कर्म करीत असताही ( समत्वरूप ) योगात स्थित असतो. ” बाह्यतः कर्माचा त्याग केला तरी मनात त्याच्यासाठी आसक्ती असेल तर तत्त्वतः ती कर्माचरणाची अवस्था मानावी लागेल, गीता तिला ‘ मिथ्याचार ’ म्हणते ३-६.

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः ।

ज्ञानाग्निदधकर्मणां तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥१९॥

“ ज्याची सर्व कर्म कामप्रेरणारहित आहेत, ज्याच्या कर्माचरणाचे आसक्तिस्वरूप ( सर्वोच्च ) ज्ञानरूप अग्नीत भस्म झाले आहे, त्याला विद्वान ( वास्तविक ) पंडित म्हणतात. ”

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।

कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः ॥२०॥

“ नित्य संतुष्ट असणारा ( ज्याचा संतोष विषय सुखासमान अनित्य स्वरूपाचा नाही ), व ( या ) स्वसंतोषार्थ कोणाही व्यक्तीवर वा वस्तूवर अवलंबून नसणारा, कर्म विषयक व फल विषयक आसक्ती त्यागून कर्म करीत असला तरी ( तत्त्वतः ) तो काही करीत नाही. ” काही लेखक येथे कर्मफल एक शब्द मानून ‘ कर्मफलासङ्ग ’ म्हणजे कर्माच्या फळाच्या आसक्तीला असा अर्थ करतात. शंकराचार्य कर्म व फल अलग शब्द मानतात; त्याने फलविषयक अनासक्ति शिवाय कर्मविषयक निरहंकारिता निर्दिष्ट होते.

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपणिग्रहः ।

शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥२१॥

यदुच्छालाभसंतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः ॥

समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते ॥२२॥

“ कोणत्याही वैयक्तिक लाभाची अपेक्षा न ठेवता, चित्तावर नियंत्रण ठेवणारा, आणि सर्व ऐहिक संग्रह त्यागणारा, ( मनात कर्माचरणासाठी आसक्तिरहित असल्याने ) जे ( कार्य ) कर्म केवळ शरीराने केले जाते ते



करणाने कोणताही दोष ( पाप ) प्राप्त करत नाही - २१. ईश्वराच्या इच्छेने जे प्राप्त होईल त्यात संतोषी, ( रागद्वेषादि ) द्वन्द्वांच्या अतीत, मत्सररहित, आणि न यशाने हर्षित व न अपयशाने उद्विग्न, असा व्यक्ती ( कार्य ) कर्म करीत असताही ( पुनर्जन्मादि ) बंधनात पडत नाही. - २२”

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।

स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥६-१॥

“ जो कर्माच्या फलाच्या ठायी आसक्त न होता कार्य ( उचित ) कर्म करतो तोच ( खरा ) संन्यासी व योगी होय; ( केवळ ) अग्निहोत्रादि सर्व कर्मे त्यागणारा ( खरा ) संन्यासी नव्हे; आणि जो ( केवळ ) ( श्वासोच्छ्वास, हृदय स्पंदन आदि ) शारीरिक क्रिया रोकतो तोही ( वास्तविक योगी ) नाही. ” ( येथे ‘ अक्रियः ’चा अर्थ भाष्यकार मधुसूदनाच्या अनुसार केला आहे; परंतु ‘ क्रिया ’चा आशय यज्ञदानतपादि कर्म असाही होऊ शकतो, पाहा १७-२४, २५ ).

सर्वात्मैक्यभाव

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पांडव

येन भूतान्यशेषेण द्रक्षस्यात्मन्यथो मयि ॥४-३५॥

“ जे परम ज्ञान प्राप्त झाल्यावर, अर्जुना तुला असा मोह पुनः होणार नाही व सर्व प्राण्यांना तू आपल्या ठायी व माझ्या ( परमेश्वराच्या ) ठायी अनुभव करशील. ” ( पाहा ईश उपनिषद श्लोक ७, “ यस्मिन्सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानतः । तत्र को शोकः को मोहः एकत्वमनुपश्यतः ॥ )

विद्याविनयसंपन्नं ब्राह्मणं गवि हस्तिनि ।

शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥५-१८॥

“ ( वास्तविक ) ज्ञानी ( पंडित ) ( सर्व प्राण्यात ईश्वर अनुभव करून ) विद्या संस्कार संपन्न ब्राह्मण, चांडाल, गाय, हत्ती व कुत्रादेखील यांना ( तत्त्वतः ) समानदृष्टीने पाहतो. ”

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।

साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥६-९॥

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।

ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥६-२९॥

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति

तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥६-३०॥

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।

सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥६-३१॥

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।

सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥३२॥

“ सखा, मित्र, शत्रुत्व करणारा, तटस्थ, मध्यस्थ, ( दुष्कर्मा-मुळे ) द्वेषास पात्र, बांधव, सज्जन व पापीदेखील, या सर्वांसाठी समान ( हितचिंतक ) भावना ठेवणारा श्रेष्ठ ( योगी ) असतो. ६-९. सर्वत्र समदृष्टि ठेवणारा योगयुक्त पुरुष स्वतःला सर्व प्राण्यांचे ठायी व सर्व प्राण्यांना स्वतःचे ठायी पाहतो - २९. जो मला सर्वत्र पाहतो व माझ्या ठायी सर्व पाहतो, त्याला मी अंतरत नाही व तोही मला अंतरत नाही - ३०. सर्व भूतांच्या ठायी वसणाऱ्या मला जो एकत्वात स्थिर होऊन ( बुद्धीतले भेदभाव नाहीसे करून ) भजतो, तो योगी सर्व प्रकारचे कार्य वर्तन करीत असताही मजमध्ये वास करीत असतो ( त्याची वृत्ति मद्रूप, परमेश्वरमय, झालेली असते ) - ३१. अर्जुना, सुख असो वा दुःख असो, जो स्वतःप्रमाणे सर्वांना समान पाहतो तो योगी परमश्रेष्ठ मानला जातो. ” - ३२

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।

विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥१३-२७॥

समं पश्यन्ति सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।

न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परं गतिम् ॥२८॥

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।

तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा ॥३०॥

“ सर्व विनाशशील प्राण्यात समान रूपाने स्थित अविनाशी परमेश्वराला जो अनुभव करतो सत्य पाहतो - २७. समान रूपाने ( सर्वत्र ) स्थित ईश्वराला जो ( त्याच ) समदृष्टीने सर्वत्र अनुभवतो तो स्वतःचा अधःपात न करता परमगति प्राप्त करतो. ” - २८ ( पाहा ६-५, ६ आणि ईश उपनिषद “ चे के आत्महतो जनाः ” ). “ जेव्हा प्राण्यात प्रतीत होणारे भिन्न अस्तित्व ( मूलतः ) ‘ एक ’ ( परब्रह्म )ची रूपे आहेत, आणि त्या ( ‘ एक ’) पासूनच सारा विस्तार झाला आहे, असे साधक अनुभव करतो, तेव्हा तो ब्रह्मावस्था प्राप्त करतो. - ३० ”

परम श्रीकृष्ण भक्ति

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः ।

बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥४-१०॥

“ आसक्ति, भय, क्रोध त्यागून, चित्त माझ्यात लावून, माझी भक्ति करणारे



अनेक शुद्धचित्त सिद्ध व्यक्ती ज्ञानरूप तपद्वारा माझ्या स्वरूपाला प्राप्त झाले आहेत.”

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि यतोऽधिकः ।

कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥६-४६ ॥

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।

श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥४७॥

“ ( साम्य बुद्धियुक्त ) योगी ( केवळ ) तप करणाऱ्यापेक्षा श्रेष्ठ आहे, ( केवळ ) ज्ञानोपासना करणाऱ्यापेक्षाही श्रेष्ठ आहे, आणि ( केवळ ) ( कार्य ) कर्माचरण करणाऱ्यापेक्षाही श्रेष्ठ आहे, म्हणून अर्जुना तू योगी हो-४६. सर्व योगी पुरुषातही जो श्रद्धापूर्वक माझ्यात चित्त लावून माझी भक्ति करतो त्याला मी सर्वश्रेष्ठ योगी मानतो. - ४७ ”

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः ।

माययापहतजाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥७-१५ ॥

“ ज्यांचे ज्ञान मायाद्वारा झाकले गेले आहे असे आसुरी स्वभावाचे दुराचारी नराधम मूर्ख माझी ( ईश्वराची ) भक्ति करीत नाहीत. ” याच्या विपरीत चार प्रकारचे सज्जन माझी भक्ति करतात.

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।

आर्तो जिज्ञासुरार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥१६॥

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।

प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥१७॥

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।

आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥१८॥

बहूनां जन्मानामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।

वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥१९॥

“ भरत कुलश्रेष्ठा अर्जुना, चार प्रकारचे सदाचारी (१) व्यक्ती माझी भक्ति करतात. ( ऐहिक दुःखाने ) पीडित, सुखभोगाची इच्छा करणारा, ( ज्ञानाचा ) जिज्ञासु ( साधक ), आणि ज्ञानी. - १६ त्यात नित्ययोगस्थ राहून ( माझी ) अनन्य भक्ती करणारा ज्ञानी सर्वश्रेष्ठ आहे; अशा ज्ञानीला मी अतिप्रिय असतो, आणि मलाही तो ( तसाच ) प्रिय असतो. - १७ हे

(१) येथे ‘ सुकृतिनः ’ शब्द श्लोक १५ च्या ‘ दुष्कृतिनः ’ च्या विरोधात आहे. दुराचारी व्यक्ती दुःखपीडित झाल्यावर ईश्वराला दोष देऊन अधिक दुराचरणाकडे वळतो; उलट सदाचारी व्यक्ती ईश्वराची प्रार्थना करतो.

सर्व सत्प्रवृत्त असतात, परंतु ज्ञानी तर मला स्वतःच प्रतीत होत असतो, कारण तो योगयुक्त होऊन माझ्या सर्वोत्तम साधनेत स्थित असतो. - १८ अनेक जन्मां ( च्या साधने ) नंतर ज्ञानी संपूर्ण विश्व वासुदेव ( कृष्ण ) मय आहे असा अनुभव करून मला पोचतो; असा महात्मा विरळा असतो - १९.”

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत ।

सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यान्ति परंतप ॥७-२७॥

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम् ।

ते द्वन्द्वमोहनिमुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ॥२८॥

“ अर्जुना, इच्छा द्वेषापासून उत्पन्न ( सुखदुःखादि ) द्वंद्वांच्या मोहाने ग्रस्त होऊन या संसारात सर्व ( सामान्य ) प्राणी भ्रमित होत असतात-२७. परंतु पुण्यकर्म करणाऱ्या ज्या व्यक्तींचे पाप नष्ट झाले आहे ते ( त्या ) द्वंद्वांच्या मोहापासून पूर्ण मुक्त होऊन दृढवृत्तीने माझी भक्ति करतात. ” - २८

अनन्याश्रित्यन्तर्गतो मां ये जनाः पर्युपासते ।

तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥९-२२॥

यत्र पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।

तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥२६॥

“ अनन्यभावाने माझे ध्यान करणारे जे माझी उपासना करतात त्या नित्य योगस्थितीत चित्त ठेवणाऱ्यांच्या जीवन निर्वाहाची व क्षेमकुशलाची ( योगक्षेमाची ) व्यवस्था मी करतो ९-२२. जो मला भक्तिभावनेने फळ, फूल, पाने अथवा केवळ जल अर्पण करतो ते त्या शुद्धचित्त व्यक्तीने भक्तिपूर्वक दिलेले मी ( प्रसन्नतापूर्वक ) स्वीकार करतो. - २६ ”

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।

ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥९-२९॥

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।

साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥३०॥

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।

कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥३१॥

ममना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।

मामेवैक्यसि युक्त्यैवमात्मानं मत्परायणः ॥३४॥

“ सर्व प्राण्यांसाठी माझी समान ( हितचिंतक ) दृष्टी असते; मला कोणीही व्यक्तिशः द्वेषपात्र व ( विशेष ) प्रिय नाही; जे माझी भक्तिपूर्वक उपासना करतात ते माझ्यात व मी त्यांच्यात ( विशेष निकटरूपाने ) असतो. - २९



अत्यंत दुराचारी देखील ( पापांची फळे भोगल्यानंतर ) जर माझी अनन्य भक्ति करेल तर त्याला साधूच मानावे, कारण त्याची बुद्धी उचित दिशेने स्थित झाली असते - ३०. तो शीघ्र धर्मात्मा होऊन चित्तांत पूर्ण शांती प्राप्त करतो; अर्जुना, हे निश्चित जाण की माझा भक्त कधीही नाश पावत नाही - ३१. आपले मन माझ्यात लाव, माझा भक्त हो, माझे यजनपूजन कर, मलां नमस्कार कर; अशाप्रकारे चित्त नियंत्रित करून स्वतःला माझ्यात समर्पण कर, तू मलाच येऊन मिळशील - ३४. ”

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्वक्तुः सङ्गवर्जितः ।

निर्वैः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥११-५५॥

“ अर्जुना, जो आपले कर्म मला अर्पण करतो, माझ्यात श्रद्धा ठेवतो, माझी भक्ति करतो, ( भौतिक ) आसक्ति त्यागतो, कोणाही प्राण्याशी वैर करीत नाही, तो मला येऊन पोचतो. ”

श्रीकृष्ण आपल्या भक्तांचे हे आणखी वर्णन देतात -

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ।

निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥१२-१३॥

संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ।

मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्वक्तुः स मे प्रियः ॥१४॥

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकात्त्रोद्विजते च यः ।

हर्षमर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥१५॥

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ।

सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्वक्तुः स मे प्रियः ॥१६॥

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति ।

शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥१७॥

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।

श्रीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥१८॥

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मानी संतुष्टो येन केनचित् ।

अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥१९॥

ये तु धर्म्यापृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते ।

श्रद्धधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ॥२०॥

“ कोणाही प्राण्याचा द्वेष न करणारा, सर्वांसाठी मित्रभाव ठेवणारा, दयाळू, स्वार्थहीन, निरहंकारी, ( स्वतःच्या ) सुखदुःखासाठी समान उदासीन, व क्षमाशील - १३, सर्व काळ संतोषी, चित्तयोगावस्थेत ठेवणारा, आत्मसंयमी, दृढनिश्चयी, माझ्यात मन व बुद्धि समर्पण करणारा असा माझा

भक्त मला प्रिय असतो - १४. ज्याच्यापासून लोकांना उद्वेग होत नाही व लोकांपासून ज्याला उद्वेग होत नाही, आणि जो हर्ष, क्रोध, भय, ( सर्व प्रकारचा ) उद्वेग आदि रहित आहे, तो मला प्रिय असतो ” - १५. ( याच्या उलट ज्याच्यापासून लोकांना उद्वेग होतो - “ तस्मादुद्विजते लोकः सर्पाद् वेश्मगताविव ” महाभारत, वनपर्व, अध्याय २८, ‘ त्याच्या-पासून लोकांना घरात प्रविष्ट सर्पांसमान उद्वेग होतो ). “ ( स्वतःसाठी ) कशाचीही अपेक्षा न करणारा, शुद्ध राहणारा, ( आत्मोन्नतीच्या प्रयासात ) दक्ष, ( स्वतःच्या सुखदुःखासाठी ) उदासीन, ज्याची सारी आंतरिक अस्वस्थता शांत झाली आहे, कोणत्याही विशिष्ट कर्माविषयी आग्रह न करणारा, असा माझा भक्त मला प्रिय असतो - १६. जो ( प्राप्त सुखाने ) हर्ष करीत नाही, ( प्राप्त-दुःखाचा ) तिरस्कार करीत नाही, ( दुःखाने ) शोक करीत नाही व ( सुखाची ) कामना करीत नाही, जो अशुभ फळ देणाऱ्या दुष्कर्मांचा व सत्कर्मांपासून प्राप्त होणाऱ्या ( स्वर्गादि ) शुभ पुण्यफलांचा संपूर्ण त्याग करतो असा जो ( माझी ) भक्ति करतो तो मला प्रिय असतो ” - १७. ( पुण्यफल त्यागाचा उल्लेख ८-२८ मध्येही आहे. ) शत्रु व मित्र, मान व अपमान यांविषयी समान निर्विकार दृष्टी ठेवणारा, शीत-ऊष्ण व सुख-दुःख समान अविचलित वृत्तीने सहन करणारा, आसक्ती त्यागणारा - १८, स्वतःची निन्दास्तुती समान ( निर्विकार मनाने ) ग्रहण करणारा, ( आवश्यक तितके बोलून ) मौन ठेवणारा, ( स्वतःच्या प्रयासानंतर ) जे काही प्राप्त होईल त्यात संतोषी, ( कोणत्याही विशेष ) निवासात आसक्त न राहणारा, स्थिर बुद्धीचा, माझी भक्ति करणारा मानव मला प्रिय असतो - १९. मी दिग्दर्शित केलेल्या या श्रेयस्कर अमृत ( मोक्ष ) दायक मार्गाचे जे पालन करतात ते माझ्यात श्रद्धा व पूर्ण निष्ठा ठेवणारे भक्त मला अतिशय प्रिय होतात - २०. ”

आत्मनियंत्रणासहित स्थितप्रज्ञता

श्रीकृष्णांनी जेव्हा अर्जुनाला बुद्धी साम्यावस्थेत स्थिर करणाऱ्याचा उपदेश केला ( २-५३ ), तेव्हा अर्जुनाने प्रश्न केला, स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव ।

स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत् ब्रजेत किम् ॥२-५४॥

“ केशवा, समत्वभावात बुद्धि स्थिर करणाऱ्या स्थितप्रज्ञाची काय लक्षणे असतात ? असा स्थितप्रज्ञ व्यक्ती काय बोलतो ? कसा राहतो ? कसे चालतो ( आचरण करतो ) ? ” श्रीकृष्णांनी उत्तर दिले-



प्रजहाति यदा कामास्सर्वान्पार्थ मनोगतान्  
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥५५॥

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः  
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥५६॥

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्  
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५७॥

“ अर्जुना, जेव्हा ( मनुष्य ) मनातील सर्व कामेच्छांचा समूळ त्याग करतो व स्वतः आपल्या ठायीच संतुष्ट असतो, तेव्हा त्याला स्थितप्रज्ञ म्हणतात - ५५. दुःखाने ज्याचे मन उद्विग्न होत नाही, व सुखाने आकृष्ट होत नाही, आसक्तिभयक्रोधापासून जो सुटला तो स्थितप्रज्ञ मुनि होय २-५६. ज्याला कशाविषयीही विशेष ममता वाटत नाही, व यथाप्राप्त अनुकूल घटनांविषयी जो हर्ष मानीत नाही व प्रतिकूल घटनांविषयी घृणा दर्शवीत नाही त्याची बुद्धि स्थिर असते - ५७.”

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५८॥

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।

रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥५९॥

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः ।

इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥६०॥

“ कासव ( शरीर रक्षणार्थ आवश्यक नसेल तेव्हा ) आपले अंग आपल्या आत समेटून घेतो, त्या प्रकारे जेव्हा हा ( व्यक्ती ) आपली इन्द्रिये ( कार्य कर्मार्थ आवश्यक नसतील तेव्हा ) त्याच्या विषयांपासून पूर्ण हटवून घेतो तेव्हा त्याची बुद्धि स्थिर असते - ५८. आहार ( ऐन्द्रियिक भोग ) त्यागणाऱ्या पासून विषय दूर राहिले तरी ( केवळ तेवढ्याने ) ( त्यांच्या-साठी ) आसक्ती नष्ट होत नाही; ती ( आसक्ती ) देखील परमब्रह्माच्या दर्शना ( अनुभूति ) ने नष्ट होते - ५९. अर्जुना, इन्द्रिये अति बलवान असून त्यांना नियंत्रित करण्याचा प्रयास करणाऱ्या विवेकशील व्यक्तीचेही मन जबरदस्तीने खेचून घेतात - ६०.”

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ।

वशो हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥२-६१॥

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।

आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥६४॥

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।

प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥६५॥

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ।

न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥६६॥

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते ।

तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नाविमिवाभ्यसि ॥६७॥

तस्माद्व्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः ।

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६८॥

“ ती सर्व ( इन्द्रिये ) संयमित करून योगसाधकाने आपले चित्त माझ्यात लावावे; इन्द्रिये ज्याच्या अधीन असतात त्याची बुद्धि स्थिर असते - ६१... परंतु ( अनुकूल अनुभवात ) आसक्ती व ( प्रतिकूल अनुभवांचा ) द्वेष यांनी पूर्ण रहित, आणि आपल्या अधीन ठेवलेल्या इन्द्रियांद्वारे विषयांत विचरण करणारा आत्मसंयमी व्यक्ती चित्तांत परम प्रसन्नता प्राप्त करतो - ६४. ( अशा प्रकारे ) चित्त प्रसन्नतापूर्ण झाल्यावर त्याची सर्व दुःखे नष्ट होतात आणि ( त्या ) प्रसन्नचित्त व्यक्तीची बुद्धी शीघ्र ( सांम्यावस्थेत ) स्थिर होते - ६५. योगयुक्त नसलेल्याची बुद्धि अशी स्थिर नसते; आणि योगयुक्त नसलेल्यास दृढ निष्ठा नसते; आणि अशा निष्ठाहीन मनुष्याला ( मानसिक ) शांति प्राप्त होत नाही. ज्याला शान्ति नाही त्याला सुख कोठून लाभणार ? - ६६. ( विषयांत ) संचरणाच्या इन्द्रियांच्या मागे जे मन लागते ते अशा पुरुषाच्या बुद्धीस, पाण्यात वायु ज्याप्रमाणे नौकेस ( इस्ततः घेऊन जातो ) तद्वत् खेचून नेते - ६७. म्हणून अर्जुना, ज्याची इन्द्रिये विषयांच्या संबंधात सर्वप्रकारे नियंत्रित आहेत त्याची प्रज्ञा ( बुद्धि ) स्थिर असते - ६८.”

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।

यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥६९॥

“ ( आत्मानुभूतीच्या ) ज्या अवस्थेकडे सर्व ( सामान्य ) मानव रात्री निद्रावश होण्यासमान प्रेरणाशून्य असतात, तिच्याकडे आत्मसंयमी ( स्थितप्रज्ञ ) जागरूक ( प्रेरित ) असतो; आणि ( ऐन्द्रियिक सुखाच्या ) ज्या अवस्थेसाठी ( सामान्य ) मानव जागरूक ( प्रयत्नशील ) असतो तिच्यासाठी आत्मज्ञानी मुनि रात्री निद्रावश होण्यासमान प्रयासशून्य असतो.”

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं

समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्गत ।

तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे

स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥२-७०॥



विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः ।  
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥७१॥  
एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति ।  
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमुच्छति ॥७२॥

“ ज्या प्रकारे सर्वतः परिपूर्ण व आपली मर्यादा न सोडणाऱ्या समुद्रात ( नद्यांचे ) जल समुद्राला किंचितही विचलित न करता प्रवेश करत राहते, त्या प्रकारे ज्याच्या मनात सर्व कामेच्छा प्रवेश करतात, तो ( वास्तविक ) शांती प्राप्त करतो; कामवासनेच्या मार्गे धावणारा ती प्राप्त करू शकत नाही - ७०. सर्व कामेच्छा त्यागून जो निस्पृह, निर्मम व निरहंकार व्यक्ती ( संसारात ) वावरतो, त्याला ( हृदयात पूर्ण ) शांती प्राप्त होते - ७१. अर्जुना, ही 'ब्राह्मी' ( ब्रह्मत्वस्वरूप ) स्थिती असून, ती प्राप्त करणाऱ्याला कधी मोह होत नाही, मरण समयीही या स्थितीत राहिल्यास तो परब्रह्मास प्राप्त होतो. ” - ७२ ( येथे 'अन्तकाले' शब्दाला लागून 'अपि' शब्द आला आहे. जीवनात योगसाधनेचा प्रयास न करून, केवळ अंतकाळी श्रद्धापूर्वक ईश्वर चिंतन केल्यास ( अजामिळाममान ) स्वर्गलोक प्राप्त होऊ शकेल, परंतु अंतिम मोक्षदायक ब्राह्मी स्थिती वेगळी अवस्था आहे; अंतकाळी ती असण्यासाठी जीवनात त्या दिशेने साधना आवश्यक आहे; आणि जीवनात केलेली अशी साधना अंतकाळी 'देखील' कायम न राहिली तर मोक्ष प्राप्त न होऊन सहाव्या अध्यायात शेवटी सांगितल्याप्रमाणे केवळ 'शुभगति' प्राप्त होईल ).

गीता या स्थितीचे हे आणखी वर्णन देते -  
इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।  
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥५-१९॥  
न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम् ।  
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः ॥२०॥  
बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम् ।  
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ॥२१॥  
ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।  
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥२२॥  
शक्रोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात् ।  
कामक्रोधोद्वेगं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥२३॥

“ ज्यांचे मन साम्यावस्थेत स्थिर झाले त्यांनी या लोकीच जन्ममरणरूप संसारास जिंकले; कारण ब्रह्म हे निर्दोष आणि सम असल्याने ते ( समचित्त

११६ \* गीता तत्त्व दर्शन

व्यक्ती ) ब्रह्मस्वरूपात स्थित झालेले असतात - १९. प्रिय ( सुखकारक ) अनुभव प्राप्त झाले असता हर्षाने फुलून जाऊ नये, आणि अप्रिय अनुभव प्राप्त झाल्यावर उद्विग्न होऊ नये; ( असा ) स्थिर बुद्धियुक्त स्थितप्रज्ञ ब्रह्मवेत्ता योगी ब्रह्मात स्थित असतो - २०. बाह्य विषयांच्या संयोगात-तज्जन्य सुखात- जो आसक्त होत नाही त्याला स्वतःच्या आत्म्यांतल्या सुखाची ( आत्मानंदाची ) प्राप्ति होते; ब्रह्मक्य पावणारा तो पुरुष अक्षय सुखाचा अनुभव घेतो - २१. अर्जुना, इन्द्रियाचा विषयांशी संपर्क होण्यावर जे सुखानुभव होतात त्यांना आरंभ व अंत असतो, आणि ( अंततोगत्वा ) ते दुःख उत्पन्न करतात; ज्ञानी त्यात रूची घेत नाही - २२. शरीर त्यागण्यापूर्वी जो ऐहिक जीवनातच काम क्रोधाचा आवेश सहन करू शकतो तो मानव योगयुक्त व ( वास्तविक ) सुखी असतो - २३. ”

स्पर्शात्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे ध्रुवोः ।  
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥५-२७॥  
यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।  
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥२८॥

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।  
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥२९॥

“ इन्द्रियांचे विषयांशी बाहेरून होणारे संपर्क बाहेरच ठेवून ( त्यांचेपासून अंतःकरण अलिप्त ठेवून ) दृष्टि भुक्कुटीमध्ये स्थिर करून, आणि दोन्ही नाकपुड्यात विचरणारा प्राणवायु ( उच्छ्वास ) व अपानवायु ( श्वास ) समान गतीत ठेवून - २७, जो मोक्षपरायण मुनि इन्द्रिये, मन व बुद्धि यावर नियंत्रण ठेवतो, आणि ( सकाम ) इच्छा, भय व क्रोध यापासून सदा रहित असतो तो मुक्त होतो - २८. सर्व यज्ञात व तपात अर्पण स्वीकारणारा, संपूर्ण लोकांचा सर्वश्रेष्ठ स्वामी, आणि सर्व जीवांचा हितचिंतक अशा मला जाणून घेऊन तो ( मुक्त व्यक्ती ) ( परम ) शांती प्राप्त करतो. ” - २९

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः ।  
शीतोष्ण सुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥६-७॥  
ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।  
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्जनः ॥८॥

“ जो स्वतःवर नियंत्रण ठेवतो व पूर्ण शान्तिचित्त असतो, त्याचा युद्धात्मा शीतोष्ण, सुखदुःख व मानापमान यांच्या अनुभवात स्थिर ( अविचलित ) राहतो - ७. ज्याला ( आत्मतत्त्वाचे ) ज्ञान व ( त्रिगुणात्मक प्रकृतीच्या स्वरूपाचे ) विज्ञान पूर्ण प्राप्त झाले आहे, ज्याला विशुद्ध आत्मस्वरूपाची

गीता तत्त्व दर्शन \* ११७



अनुभूति झाली आहे, ज्याने इन्द्रियांना आपल्या वश केले आहे, माती, दगड व सुवर्ण जो समान मानतो, अशा योगीला योगारूढ म्हटले जाते - ८.”

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः ।

शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥६-१५॥

“मनावर नियंत्रण ठेवून स्वतःला अशा प्रकारे सतत योगसाधनेत लावणारा योगी माझ्या स्वरूपाला पोचल्याने प्राप्त होणारी परमशान्ती प्राप्त करतो.”

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।

निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥१८॥

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता ।

योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ॥१९॥

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ।

यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥२०॥

सुखमात्यन्तिकं यत् तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।

वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥६-२१॥

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।

यस्मिन्निश्चितो दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥२१॥

“जेव्हा (साधकाचे) नियंत्रित चित्त आत्मचिंतनातच स्थिर असते, आणि तो सर्व कामेच्छांसाठी अनासक्त असतो तेव्हा त्याला योगारूढ म्हणतात - १८. वायुरहित स्थळी ठेवलेल्या दिव्याची ज्योत जशी निश्चल असते, ती उपमा आत्मसाधनपर योगात स्थिर असणाऱ्या योग्याच्या संयत चित्ताला दिली गेली आहे - १९.” (ही उपमा श्वेताश्वतर उपनिषदात अशी आली आहे, “यदात्मत्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं । दीपोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत्...३-२-१५; आणि महाभारताच्या शांतिपर्वात अध्याय २४६ व ३१६ मध्येही ती आहे). “जेव्हा (पातंजल) योगाभ्यासाने नियंत्रित चित्त (बाह्य विषयांपासून) निवृत्त होते, आणि जेव्हा शुद्ध झालेल्या चित्ताद्वारा साधक स्वतःतच मूळ आत्मस्वरूप अनुभव करून आनंद मग्न होतो - २०. (तेव्हा) इन्द्रियातीत व केवळ (विशुद्ध) बुद्धीने ग्रहण करता येईल, अशा आत्यंतिक सुखाचा तो (योगी) अनुभव घेतो, व जेथे स्थिर झाल्यानंतर परमआत्मतत्त्वापासून तो विचलित होत नाही - २१. ही अवस्था प्राप्त झाली असता त्याला अन्य कोणताही लाभ तिच्याहून अधिक वाटत नाही, आणि तेथे स्थिर झाल्यावर विशाल अशा दुःखाने देखील योगी विचलित होत नाही - २२.”

## निश्चैगुण्यता

गीतोक्त योगाच्या अवस्थेत श्रीकृष्ण ‘निश्चैगुण्य’ (प्रकृतीच्या सत्त्व रजतम गुणांच्या अतीत) स्थिती दर्शवितात (२-४५). या स्थितीचे स्पष्टीकरण अध्याय १४ मध्ये आले आहे.

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः ।

निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥१४-५॥

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम् ।

सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ ॥६॥

“अर्जुना, प्रकृतीपासून उत्पन्न होणारे सत्त्व, रज व तम हे त्रिगुण अविनाशी देहस्थित आत्म्याला देहाचे ठायी बद्ध करीतात १४-५. अर्जुना, त्यापैकी, निर्मल स्वभावामुळे प्रकाशमय व निर्दोष असणारा सत्त्वगुण सुख व ज्ञान याविषयीच्या आसक्तीने (जीवास) बद्ध करितो.” - ६

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत् ।

तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते ॥१४-१४॥

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते ।

तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ॥१५॥

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम् ।

रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ॥१६॥

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।

जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥१८॥

“जेव्हा देहधारी (मानव) सत्त्वगुण प्रभावी असताना मरतो, तेव्हा तो श्रेष्ठ ज्ञानमार्गीयाना प्राप्त होणाऱ्या पुण्यलोकात जातो - १४. रजोगुणात मरण झाल्यास कर्मासक्तिप्रधान (मानवाच्या) योनीत जन्म घेतो, आणि तमोगुणात मृत्यू झाल्यास बुद्धिहीन (पशु अथवा विक्षिप्त स्वभावाच्या मानवांच्या) योन्यात जन्म घेतो. - १५. सत्कर्माचे फल निर्मल सात्त्विक (सुखकारक) असते, परंतु राजस कर्माचे फल (अंतोगत्वा) दुःख, व तामस कर्माचे फल अज्ञान आहे - १६. सत्त्वगुणी व्यक्ती (मरणोत्तर) वरच्या (स्वर्गादि) गतीला जातात, रजोगुणी मध्यगतीत (मनुष्य योनीला) जातात, व हीनवृत्तीचे तामसी व्यक्ती ‘निम्न’ (पशु आदि योनीला) जातात - १८.”

परंतु जरी सत्त्वगुणी व्यक्ती वरिष्ठ गति प्राप्त करतात, ती अंतिम मोक्षावस्था नसून, अंततोगत्वा त्यांची तेथून ‘पुनरावृत्ती’ होते (८-१६). याच्या विपरीत सर्वोच्च ‘त्रिगुणातीत’ अवस्था जन्ममरण चक्रापासून पूर्ण



मुक्ती देते.

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति ।  
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥११॥  
गुणानेतानतीत्य व्रीन्देही देहसमुद्भवान् ।  
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥२०॥

“ साधक द्रष्टा जेव्हा प्रकृतीच्या ( सत्त्व, रज, तम ) गुणांच्या अतिरिक्त अन्य कर्ता नाही ( शुद्ध आत्मा मूलतः अकर्तास्वरूप आहे ) असे अनुभव करतो, व त्या गुणांच्या अतीत असणारा ( विशुद्ध आत्मा ) जाणून घेतो, तेव्हा तो माझ्या स्वरूपाला प्राप्त होतो. - ११ शरीराच्या उत्पत्तीला कारणभूत होणाऱ्या या तीन गुणांच्या अतीत जाणारा मानव ( पुनर् ) जन्म, वृद्धावस्था व मृत्यू यांच्या दुःखापासून मुक्त होऊन अमृतत्व ( मोक्ष ) प्राप्त करतो - २० ”. यावर अर्जुनाने प्रश्न केला,

केलिङ्गस्त्रीगुणानेतानतीतो भवति प्रभो ।

किमाचारः कथं चैतास्त्रीगुणानतिवर्तते ॥१४-२१॥

“ प्रभो, या तीन गुणांच्या अतीत जाणाऱ्याची काय लक्षणे असतात ? त्याचे आचरण कसे असते ? तो या तीन गुणांच्या अतीत कसा जातो ? ” श्रीकृष्णांनी उत्तर दिले,

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव ।

न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति ॥२२॥

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते ।

गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते ॥२३॥

“ अर्जुना, प्रकाश ( सत्त्वगुण ), प्रवृत्ति ( रजोगुण ) व मोह ( तमोगुण ) यांचे अनुभव आल्यावर जो त्यांचा तिरस्कार करीत नाही, आणि ते नाहीसे झाले तर त्यांची इच्छा करीत नाही. - २२ ( सारांश, जो त्यांच्यासाठी उदासीन ( अप्रभावित ) राहून, या गुणांमुळे विचलित होत नाही, आणि ही सर्व गुणांची क्रिया-प्रतिक्रिया आहे असे मानून ( साम्यचित्त स्थितीत ) स्थिर राहतो व शुब्ध होत नाही - २३. ” ( त्याला गुणातीत म्हणतात. )<sup>(१)</sup>

-----  
<sup>(१)</sup> श्लोक २२ मध्ये ‘ प्रकाश ’, ‘ प्रवृत्ति ’ व ‘ मोह ’ शब्द सत्त्व रज तम गुणांचे प्रतीक आहेत. श्लोक ६ व ११ मध्ये ‘ प्रकाश ’ सत्त्वगुणाचे, श्लोक १२ मध्ये ‘ प्रवृत्ति ’ रजोगुणाचे व श्लोक १३ मध्ये ‘ मोह ’ तमोगुणाचे विशेष लक्षण म्हटले आहे. श्लोक २३ मध्ये ‘ गुणावर्तन्तइत्येव ’ यासाठी ३-२८ पाहा.

१२० \* गीता तत्त्व दर्शन

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।  
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥२४॥  
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।  
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥२५॥

“ सुखदुःख समान ( उत्तेजनरहित मनाने ) अनुभव करणारा, शांतवृत्तीचा, माती, दगड व सोने समान मानणारा, प्रिय व अप्रिय घटनांना ( उत्तेजनारहित मनाने ) समान पाहणारा, धैर्यवान, निंदा व स्तुती विषयी ( उत्तेजनारहित मनाने ) समान राहणारा - २४, मान व अपमान समान निर्विकार वृत्तीने स्वीकारणारा, मित्रपक्ष व शत्रुपक्ष यांना ( हितचिंतक दृष्टीने ) समान पाहणारा, आणि कोणत्याही कर्माचा व्यक्तिशः आग्रह न धरणारा, अशा व्यक्तीला ( त्रि ) गुणातीत म्हणतात - २५. ”

ही सर्वोच्च साम्यचित्तावस्था भगवान श्रीकृष्णांच्या एकनिष्ठ भक्तीने प्राप्त होते -

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।

स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥२६॥

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ।

शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥२७॥

“ जो अनन्य निष्ठापूर्वक भक्तियोगाने माझी उपासना करतो, तो प्रकृतीच्या गुणांच्या पूर्ण अतीत जाऊन ( परम ) ब्रह्मावस्था प्राप्त करण्यास पात्र होतो. - २६ कारण, मी अमृतस्वरूप अविनाशी ( परम ) ब्रह्माचे अधिष्ठान ( निवासस्थान ), ( विश्व रचनेला धारण करणाऱ्या ) शाश्वत धर्माचा आधार, व अखंड विशुद्ध परमानंदाचे मूळ आहे - २७. ”

गीतेचा योग - ‘ बुद्धियोग ’

टिळकांच्या अनुसार गीतेत मुख्यतः प्रतिपादित योग कर्मयोग आहे. परंतु गीतेचा प्रतिपादित मुख्य योग कर्मयोग नाही.

कर्मयोगाचा प्रथम उल्लेख तिसऱ्या अध्यायात येतो. सुरवातीस श्रीकृष्णांनी सांख्यदर्शनातून भिन्न योगानुसार बुद्धी कथन करतो असे म्हणून ( २-३१ ) कर्मफलत्यागाची निष्कामवृत्ती प्रतिपादन केली ( २-४७, ४८ ); आणि म्हटले,

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय ।

बुद्धौ शरणमचिच्छ कृपणाः फलेहेतवः ॥२-४९॥

यावर अर्जुनाने श्रीकृष्णास विचारले,

गीता तत्त्व दर्शन \* १२१



ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन ।

तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥३-१॥

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे

तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमानुयाम् ॥२॥

“ जनार्दन, जर तुझ्या मताप्रमाणे कर्मपेक्षा ( साम्यत्वांत स्थित) बुद्धि श्रेष्ठ आहे तर, केशव, मला या घोर ( बुद्ध ) कर्मासाठी का प्रेरित करत आहेस ? ” द्वयर्थी भासणाऱ्या शब्दांनी तू माझ्या बुद्धीला मोह पाडल्यासारखे करीत आहेस; तरी मला जे वास्तविक कल्याणप्रद असेल ते काही एक निश्चित सांग - २. ” श्रीकृष्ण म्हणाले,

लोकेऽस्मिन्निविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानया

ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेण योगिनाम् ॥३-३॥

“ अर्जुन, ( श्रेय प्राप्तीसाठी ) या लोकी प्रचलित दोन प्रकारच्या निष्ठा मी यापूर्वी ( समाजात ) सांगितल्या आहेत - सांख्य उपासकांची ज्ञानयोगद्वारा व योगींची कर्मयोगद्वारा. ” येथे अध्यात्मनिष्ठांच्या दोन प्रचलित प्रकारांचा उल्लेख असून, या विषयी स्वतः श्रीकृष्णांचे प्रतिपादन व्यक्त नाही. या दोन प्रचलित निष्ठांचा संबंध आठव्या अध्यायात उल्लेखित ‘ शुक्ल ’ ( देवयान ) व ‘ कृष्ण ’ ( पितृयाण ) या दोन मरणोपरान्त पुण्यमार्गांशी आहे. देवयान मार्गाने प्राप्त होणारी गति कर्मसंन्यासी ( ज्ञानमार्गी ) परम श्रेयस्कर मानतात, तर कर्मयोगी पितृयाणाने प्राप्त होणाऱ्या स्वर्गादि देवलोकाना परमश्रेयरूप मानून अन्य काही श्रेयस्कर नाही असे म्हणतात ( २-४२ ). परंतु ( पुढे दाखविल्याप्रमाणे ) गीतेच्या अनुसार देवयानमार्गाने प्राप्त होणारी गति वास्तविक परमश्रेयरूप नाही, आणि केवळ कर्मयोगात निष्ठा ठेवणारा ( उक्त श्लोक ३-३ मध्ये उल्लेखित ) योगीदेखील गीतेचा आदर्श योगी नाही.

‘ कर्मयोग ’ चा दुसरा उल्लेख अध्याय ३ मध्ये येतो -

कर्मोन्दित्र्याणि संयम्य च आस्ते मनसा स्मरन् ।

इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥३-६॥

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन ।

कर्मोन्दित्र्यैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥७॥

“ जी अशुद्ध मनाची व्यक्ती कर्मोन्दित्र्ये नियंत्रित करते परंतु मनात विषय चिंतन करत असते तिला मिथ्याचारी म्हणतात. - ६ परंतु, अर्जुन, जो मनाने इन्द्रिये नियंत्रित करून, कर्मोन्दित्र्याच्याद्वारे अनासक्त वृत्तीने कर्मयोग आचरतो तो ( त्या मिथ्याचारीपेक्षा ) श्रेष्ठ आहे - ७. ” परंतु हे एक तुलनात्मक विधान आहे. वस्तुतः तो अशुद्ध मानसाचा ‘ विमूढ ’ व्यक्ती

१२२ \* गीता तत्त्व दर्शन

होईगी नाही. ढोंगी तो जो कर्मोन्दित्र्यांचा खरोखर संयम न करता तसे खोटे दर्शवितो; ‘ मिथ्याचारी ’ इन्द्रियांना खरोखर रोकतो परंतु, त्याचे मनावर पूर्ण नियंत्रण नसते. अशा ‘ मिथ्याचारी ’च्या तुलनेने कर्मयोग आचरणारा श्रेष्ठ होय. परंतु एवढ्याने कर्मयोग गीतेचा सर्वश्रेष्ठ योग ठरत नाही.

कर्मयोगाचा तिसरा उल्लेख श्लोक ५-२ मध्ये असून, त्यात कर्मसंन्यासापेक्षा कर्मयोगात काही अधिक विशेषता सूचित केली आहे. परंतु हेही तुलनात्मक विधान आहे, आणि या श्लोकाच्या वर केलेल्या चर्चेत दाखविल्याप्रमाणे हा कर्मयोग मोक्षमार्गाचा एक अंश असून गीतोक्त अंतिम योगावस्था ( संपूर्ण साम्यत्वरूप स्थितप्रज्ञता ) नाही.

‘ कर्मयोग ’ चा शेवटचा उल्लेख तेराव्या अध्यायात येतो.

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना ।

अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेण चापरे ॥१३-२४॥

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते ।

तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥२५॥

“ काही विरळे सिद्ध व्यक्ती शुद्धचित्ताने ध्यानद्वारा ( परम ) आत्मतत्त्व ( परमात्मा ) चे स्वतः दर्शन ( अनुभूति ) करतात; अन्य कोणी सांख्ययोग ( ज्ञानमार्ग ) द्वारा, व कोणी अन्य कर्मयोगद्वारा, आणि ज्यांना स्वतःला असे ज्ञान नसते असे अन्य कोणी दुसऱ्यांपासून ( श्रद्धापूर्वक ) श्रवण करून तदनुसार उपासना करतात, आणि ते श्रवणमार्गीही ( सांख्ययोगी व कर्मयोगी साधकांसमान ) मृत्युलोक चांगल्याप्रकारे पार ( करून पुण्यलोक प्राप्त ) करतात - २४, २५. ” यातही ‘ कर्मयोग ’ ला सर्वोच्च न म्हणता, अनेक इष्ट मार्गांपैकी एक दर्शविला आहे.

तेराव्या अध्यायानंतर गीतेत ‘ कर्मयोग ’ चा उल्लेख नाही.

गीतेत सर्वोच्च ‘ योग ’ स्थितीला ‘ बुद्धियोग ’ म्हटले आहे. श्रीकृष्ण

आपल्या उपदेशाचा आरंभ सांख्यदर्शनाच्या ‘ पुरुष ’ वर्णनाने करतात. शरीर ( जन्म घेते व ) मरते, परंतु ‘ पुरुष ’ ( जन्म घेत नाही व ) मरत नाही. श्रीकृष्णांच्या या विवेचनात ऐन्द्रियिक भोगांविषयी अनासक्तीचा उपदेश ( २-१४, १५ ) व ते युद्ध करण्याचा अर्जुनाला आदेश ( २-१८ ) समाविष्ट आहे. हे सांख्यमत प्रतिपादन श्लोक २-२५ पावेतो आहे. आणि श्रीकृष्णांनी अर्जुनाला त्या युद्धार्थ प्रवृत्त करण्यासाठी श्लोक २-३८ मध्ये पुनः सांख्यमतानुसार अनासक्तीचा उपदेश दिला व सांख्य सिद्धान्ताच्या प्रतिपादनाचा समारोप केला.

त्यानंतर श्रीकृष्णांनी गीतोक्त योगाचे प्रतिपादन प्रारंभ केले.

गीता तत्त्व दर्शन \* १२३



श्रीकृष्णांना ( वेदांत दर्शनाला ) सांख्यदर्शनाचा अनासक्ति सिद्धांत मान्य आहे, परंतु त्याच्या अध्यात्म भूमिकेशी काहीसा भेद आहे. सांख्यदर्शन ' पुरुष ' अंतर्गतत्वाही अनेक मानते; गीतेच्या अनुसार सर्व वैयक्तिक पुरुष ( आत्मे ) मूलतः एक सर्वव्यापी परमब्रह्माचे अंशरूप आहेत. याशिवाय सांख्यदर्शन जड प्रकृतिचे स्वतंत्र अस्तित्व मानते, या उलट गीता ती प्रकृतिही अंतर्गतत्वा ' ब्रह्म 'चे एक अंग मानते. म्हणून जरी गीतोक्तयोग व सांख्य यांचे मानसिक निष्काम वृत्तीविषयी मुख्यतः एकमत आहे ( ५-४, ५; ६-१, २ ) तरी आपली विशिष्ट आध्यात्मिक भूमिका ध्यानात घेऊन श्रीकृष्ण ' गीतोक्त योग 'च्या अनुसार निष्काम वृत्तीचे काहीसे वेगळे स्पष्टीकरण देत म्हणाले,

एषा तेऽमिहिता सांख्ये बुद्धियौगे त्विमां शृणु ।

बुद्ध्या युक्तो यथा पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यासि ॥२-३९॥

“ अर्जुना, ही तुला सांख्यदर्शनानुसार बुद्धि सांगितली, आताही ' योग ' दर्शनानुसार श्रवण कर, जिचे पालन करून तू ( आवश्यक कार्य कर्म करीत असताही ) कर्मापासून होणाऱ्या बंधनापासून मुक्त राहशील. ” सांख्यदर्शनानुसार कर्माचरणात अनासक्त राहून शेवटी कर्मसंन्यास करावाचा असतो; गीतोक्त योगानुसार संपूर्ण कर्मसंन्यास न करता, अनासक्तवृत्तीने संसारहितार्थ आवश्यक कार्य कर्म करीत त्यांच्या शुभाशुभ-फलांच्या बंधनापासून अलिप्त रहावाचे असते, पण जेव्हा प्राप्त परिस्थितीत संसारहितार्थ योगीकडून काही ( कार्य ) कर्माची आवश्यकता नसेल तेव्हा त्याने कर्माचरणापासून अलिप्त राहून ईश्वर ध्यानात रत रहावे ( २-६१ ). सांख्यदर्शनात ईश्वराला आत्मसमर्पण नाही. याशिवाय, गीता स्थितप्रज्ञावस्थेला ' ब्राह्मी ' स्थिती म्हणते, व तिच्यात शेवटी ' ब्रह्मनिर्वाण ' ( ब्रह्मात्मैक्य ) प्राप्त होते असे म्हणते ( २-७२ ), ही धारणा सांख्यदर्शनात नाही.

गीतोक्त निष्काम वृत्ति ( बुद्धी ) चे वर्णन करीत श्रीकृष्ण म्हणतात, नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।

स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥२-४०॥

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनंदन ।

बहुशाखा हानतांश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥२-४१॥

यात ( बुद्धियोगात ) आरंभ केलेली साधना ( अपूर्ण राहिली तरी ) नष्ट ( विफल ) होत नाही. ( पाहा ६-४०, ४१, ४२; उलट वैदिक विधी अपूर्ण राहिल्यास काहीही ' पुण्य ' प्राप्त होत नाही ). आणि ( शास्त्रांत निदिष्ट

' नित्य ' कर्म न केल्यास लागतो तसा ) ' प्रत्यवाय ' रूप दोष ( पाप ) ही यात लागत नाही; या मोक्षमार्गाचे थोडेही पालन ( अधःपातादि ) महान भयापासून वाचवते. - ४०

सहाव्या अध्यायाच्या शेवटी अर्जुन प्रश्न करतो, ज्याची योगसाधना एका जन्मात पूर्ण होत नसेल त्याचे काय होते ?

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाञ्जलितमानसः

अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति ॥६-३७॥

कश्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाश्रमिव नश्यति

अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ॥३८॥

एतन्मे संशयं कृष्ण छेतुमर्हस्यशेषतः

त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते ॥३९॥

“ कृष्णा, श्रद्धायुक्त असूनही पूर्ण प्रयास न झाल्याने ( जीवनाच्या अंतापावेतो परमयोगस्थितीत ज्याचे मन स्थिर झाले नाही, अशा योगाच्या परम अवस्थेस मुकलेल्या मनुष्याला ( मरणोत्तर ) कोणती गति प्राप्त होते ? - ३७ कृष्णा, ब्रह्ममार्गावर असता बांभावलेला ( उचित मार्गावर न पोचलेला ) व म्हणून अस्थिर भूमिकेचा हा व्यक्ति ( वायूमुळे ) छिन्नभिन्न अवस्थेत ( प्रकाशात मध्येच लटकत ) असणाऱ्या ढगासमान मोक्ष व शुभगति या उभयतांना मुकून नाश तर पावत नाही ( त्याचे सर्व जीवन विफल तर होत नाही ) ? - ३८ कृष्णा, या माझ्या संशयाचे पूर्ण निरसन तूच करू शकतोस, या संशयाचे समाधान करणारा तुजवाचून अन्य कोणी मला दिसत नाही - ३९. ”

यावर श्रीकृष्णांनी उत्तर दिले,

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते ।

न हि कल्याणकृत्कश्चिदुर्गतिं तात गच्छति ॥६-४०॥

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः ।

शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥४१॥

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।

एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥४२॥

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वेदहिकम् ।

यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥४३॥

पूर्वाभ्यासेन तेनैव हियते ह्यवशोऽपि सः ।

जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥४४॥

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धिकिल्बिषः ।



अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥६-४५॥

“अर्जुना, त्याचा न इहलोकात व न परलोकात विनाश होतो; हे मित्रा, सत्कर्म करणारा कोणीही दुर्गति प्राप्त करत नाही. - ४० ( तो ) योगभ्रष्ट ( योग पूर्ण प्राप्त न करणारा ) व्यक्ती ( मरणोपरान्त ) पुण्य कर्मीयांना प्राप्त होणाऱ्या पुण्यलोकी जातो, आणि अनेक वर्षे ( दीर्घकाल ) तेथे निवासानंतर तो ( परत इहलोकी ) पवित्र आचरणाच्या सद्गुण संपन्न श्रेष्ठ व्यक्तींच्या घरी जन्म प्राप्त करतो. - ४१ अथवा तो ज्ञानसंपन्न योगीच्याही परिवारात जन्म घेतो; या संसारात असा हा जन्म फार दुर्लभ आहे. - ४२ तेथे त्याला पूर्वजन्माची ज्ञानसाधना ( संस्काररूपाने ) प्राप्त होते; अर्जुना, मग तदनुसार तो परमसिद्धीच्या दिशेने आपला प्रयास पुनः चालू ठेवतो. - ४३ त्या पूर्व ( जन्माच्या ) साधनेमुळेच तो, त्याची ( स्पष्ट ) इच्छा न झाली तरी, ( योगमार्गाकडे ) आकृष्ट होतो, ( असा ) योगमार्गाचा ( केवळ ) मुमुक्षु साधकही वेदांच्या ( वेदात सांगितलेल्या सकाम फलांच्या ) अतीत जातो. - ४४ ( अशाप्रकारे ) प्रयत्नपूर्वक साधना करीत अनेक जन्मापावेतो सिद्धीच्या मार्गावर चालणारा योगी अंततोगत्वा सर्व दोषांपासून शुद्ध होऊन परमगतिला पोचतो. ” - ४५ परंतु हे त्याचे ‘ अवशः अपि ’ योगमार्गाकडे आकर्षण श्लोक ३-३६ व १८-६० मध्ये उल्लेखित इच्छाविरोधी प्रकारचे नसून मूलतः स्वेच्छानुकूल असते, हे ‘ यतते च ततो भूयः ’ ( ६-४३ ) व ‘ प्रयत्नाद्यतमानस्तु ’ ( ६-४५ ) या शब्दांद्वारे स्पष्ट आहे.

श्रीकृष्ण म्हणतात,

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनंदन

बहुशाखा हानतांश्च, बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥२-४१॥

अर्जुना, यात ( बुद्धियोगात ) सारासार विवेकबुद्धि ( अंतिम श्रेयाच्या लक्ष्यावर ) एकाग्र होते; ( या विपरीत ) विवेकरहित व्यक्तीत ( त्यांची बुद्धि भ्रमित होऊन ) ( जणू ) विभिन्न दिशांनी भटकणाऱ्या ( विविध ऐन्द्रियिक सुखाच्या मार्गे लागणाऱ्या ) अगणित बुद्ध्या असतात. ” - ४१ आणि हे स्पष्ट करीत श्रीकृष्ण म्हणाले,

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ।

वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥२-४२॥

कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।

क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥४३॥

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहतचेतसाम् ।

व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥४४॥

“अर्जुना, कर्मफलदर्शक वेदवचनांवर ध्यान केंद्रित करून, त्याशिवाय अन्य काही श्रेयस्कर नाही असे म्हणणारे, (१) कामविकाराच्या अधीन झालेले, स्वर्गप्राप्तीचा प्रयास करणारे, अविवेकी व्यक्ती ( सकाम यज्ञयाग आदि ) अनेक विशिष्ट कर्मांचे वर्णन करणारी, ( सुखी ) पुनर्जन्म व ( सुखी ) कर्मफलाची आशा दाखविणारी, ऐन्द्रियिक भोग व ऐश्वर्यप्राप्तीचे आश्वासन देणारी, जी आकर्षक वचने बोलतात, (२) त्याने चित्त भ्रमित होऊन जे ऐन्द्रियिक भोग व ऐश्वर्यात पूर्ण आसक्त राहतात, त्यांची सारासार बुद्धी साम्यावस्थेत स्थिर राहत नाही - ४२, ४३, ४४. ” म्हणून श्रीकृष्णांनी अर्जुनाला अशा वेदवचनांच्या अतीत जाण्याचा आदेश दिला आहे ( २-४५, ४६ ); आणि यानंतर श्लोक २-४७ मध्ये कर्मफलाला कर्माचा हेतु न करण्याचा उपदेश आहे. आणि याला लागूनच श्लोक २-४८ मध्ये गीतोक्त योगाचा कर्माचरणाशी प्रत्यक्ष संबंध दाखविला आहे.

येथपावेतो ‘ गीतोक्तयोग ’चे दिग्दर्शन केल्यावर श्रीकृष्ण श्लोक २-४९ मध्ये त्याला ‘ बुद्धियोग ’ असे सर्वप्रथम स्पष्ट संबोधित करतात, “दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय.”

तं विद्यादुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।

स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥६-२३॥

संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।

मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥२४॥

शनैः शनैरुपरमेदबुद्ध्या धृतिगृहीतया ।

आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥२५॥

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।

ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥२६॥

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ।

उपैति शान्तरजस ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥२७॥

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः ।

सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥२८॥

(१) मुण्डक उपनिषद्, “इष्टापूर्तं मन्यमानावरिहं । नान्यत् श्रेयो वेदयन्तो प्रमूढाः ” ( १-२-१० )

(२) पाहा तेच, “एतेहीति तमाहुनयः सुवर्चसः । सूर्यस्य रश्मिर्भिर्यजमानं वदन्ति । प्रियां वाचमभिवदन्त्योऽर्चयन्त्य । एषवः पुण्यः सुकृतो ब्रह्मलोकः ” ( १-२-६ )



“ ( जन्ममरणचक्रादि समरत ) दुःखांच्या प्राप्तीपासून मुक्त करणाऱ्या त्या ‘योग’ संबोधित अवस्थेचे ज्ञान प्राप्त करून घ्यावे, प्रसन्नचित्त व दृढ निश्चयाने त्या योगाचे पालन करावे. - २३ सर्व तृणारूप सकाम इच्छांचा संपूर्ण त्याग करून, आणि मनाद्वारेच इन्द्रियांना सगळीकडून नियंत्रित करून, धीरेधीरे दृढनिश्चयी बुद्धिद्वारा स्वतःला ( ऐहिक विषयांपासून ) निवृत्त करावे, आणि मन आत्मचिंतनात स्थिर करून ( अन्य ) कोणताही विचार करू नये. - २४, २५ चंचल अस्थिर मन जिकडे तिकडे भटकेल तिथून त्याला नियंत्रित करून स्वतःच्या अधीन करावे. - २६ ज्याचे मन पूर्ण शांत आहे, ( कर्माचरण प्रेरित करणारा ) रजोगुण विराम पावला आहे, चित्त शुद्ध आहे, जो परब्रह्माशी एकरूपता अनुभव करत आहे, अशा या योगीला सर्वोच्च सुख प्राप्त होते. - २७ चित्त शुद्ध करून स्वतःला अशाप्रकारे सतत योगसाधनेत लावणारा योगी सुलभतेने ब्रह्मप्राप्तीजन्य अत्यंत सुख अनुभव करतो - २८. ”

या बुद्धियोगाच्या उपदेशाची पूर्वपरंपरा श्रीकृष्ण संक्षेपाने अशी सांगतात -

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।  
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥४-१॥  
एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ।  
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप ॥२॥  
स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।  
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥३॥

“ हा शाश्वत योग मी विवस्वानूला ( सूर्याला ) सांगितला होता, विवस्वानाने तो ( आपला पुत्र ) मनुला शिकवला आणि मनुने तो ( आपला पुत्र ) ( राजा ) इक्ष्वाकुला कथन केला. - १ अर्जुना, अशाप्रकारे परंपरेने प्राप्त होत हा योग राजर्षी जाणत होते. परंतु, नंतर दीर्घकाल हा योग या संसारात लुप्त होऊन गेला. - २ तू माझा सखा व भक्त असल्याने तोच हा रहस्यपूर्ण ( मोक्षदायक ) पुरातन योग आज मी तुला कथन केला आहे. ” - ३ ( श्रीकृष्ण अर्जुनाशी बोलत होते म्हणून त्यांनी या योगाच्या संबंधात राजपरंपरेचा उल्लेख केला; परंतु असे नाही की या दस्युन तो कोणा ऋषिमुनीलाही ज्ञात नव्हता - पाहा श्लोक ४-१०. )

श्रीकृष्णांनी श्लोक २-१२ मध्ये काय म्हटले होते याचे विस्मरण होऊन अर्जुनाने प्रश्न केला,

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः ।  
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥४॥

“ विवस्वानचा जन्म पूर्वकाली झाला होता आणि तुमचा जन्म त्यानंतर झालेला आहे, तर मग तुम्ही ( हा योग ) पहिले विवस्वानाला सांगितला होता हे मी कसे मानू ? ” यावर श्रीकृष्णांनी पुनः आपल्या पूर्व अवतारांचा उल्लेख केला.

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ।

तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप ॥४-५॥

“ अर्जुना, माझे आणि तुझे यापूर्वी पुष्कळ जन्म होऊन गेले आहेत; मी ते सर्व जाणतो, ( पण ) अर्जुना, तू ते जाणत नाहीस. ”

महाभारताच्या शांतिपर्वात अध्याय ३४८ मध्ये श्रीकृष्णांच्या गीतोपदेशाचा उल्लेख आला आहे. तेथेही या योगाची उक्त पूर्वपरंपरा अधिक विस्ताराने देऊन वैशंपायन राजा जनमेजयाला म्हणतात -

यतीनां चापि यो धर्मः स ते पूर्व नरोत्तम ।

कथितो हरिगीतासु समासविधिकल्पितः ॥

यात म्हटल्याप्रमाणे ‘यतींसाठीही उचित’ जो ( हा ) धर्म तो पूर्वी श्रीकृष्णांनी ( अर्जुनाला ) प्रतिपादित गीतेत संक्षेपाने सांगितला होता. सारांश ‘गीतोक्त बुद्धियोग’ सन्यासी ( ज्ञानमार्गी ) व कर्ममार्गी या दोघांनाही श्रेयस्कर आहे; हेच गीता श्लोक ५-६, ६-१ व ६-२ मध्ये म्हटले आहे. कर्मयोग व सन्यासयोग या दोघांच्या समन्वयाने गीतेचा हा सर्वोच्च ‘बुद्धियोग’ साध्य होतो.

\*\*\*



जे द्वंद्वभावग्रहित झाले आहेत, ज्यांनी स्वतःवर नियंत्रण प्राप्त केले आहे, व जे सर्व प्राण्यांच्या हिताची कामना करीत असतात, असे ऋषी ( महात्मे ) परम ब्रह्म निर्वाण अवस्था प्राप्त करतात. - २५ कामक्रोधपापासून पूर्णरहित, आत्मसंयमी, आत्मज्ञानी यतींना परमशांतिमय ब्रह्म सर्वत्र अनुभूत होते - २६.”

या सर्वव्यापी परम 'ब्रह्मा'चे गीता हे वर्णन देते-

सर्वतःपाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।

सर्वतःश्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥१३-१३॥

“ त्याला सगळीकडून हातपाय, सगळीकडे नेत्र, मस्तक व मुख आणि सगळीकडे कान आहेत; विश्वात सर्वांना व्याप्त करून ते स्थित आहे. ” ( हा श्लोक शब्दशः श्वेताश्वतर उपनिषदातला आहे ३-१६ ). ' परम ब्रह्म ' ला सगळीकडे हातपाय, नेत्र आदि आहेत याचा आशय असा की, विश्वात कोठेही काही अर्पण केलेले ते ग्रहण करते ( ते त्याला पोचते ), ते सर्वत्र असून कोठेही जे काही होते ते पाहते, श्रवण करते, जाणते. ”

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।

असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तुं च ॥१४॥

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च ।

सूक्ष्मत्वात्तद्विज्ञेयं दूरस्य चान्तिके च तत् ॥१५॥

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।

भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥१६॥

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ।

ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ॥१७॥

“ तें ( ब्रह्म ) सर्वप्रकारे इन्द्रियरहित असूनही सर्व इन्द्रियांच्या ग्रहण शक्तीचा त्यात आभास असतो ( तें सर्व इन्द्रियांच्या विषयांना जाणते ) कशातही आसक्त नसून तें सर्वांचे पालनपोषण करते, निर्गुण असूनही ( सर्व ) गुणांना अनुभवते. (१) - १४ तें सर्व प्राण्यांच्या बाहेर व आतही आहे, आणि अचल व चलही आहे; ( अति ) सूक्ष्म असल्याने तें ( इन्द्रियांनी ) जाणले जात नाही, तें दूर व समीपही ( सर्वत्र ) आहे. (२) - १५ मूलतः अविभाजित असूनही तें सर्व प्राण्यात विभाजित समान स्थित आहे; सर्वोच्च ज्ञेय असून

(१) याच्या समान श्वेताश्वतर उपनिषदात श्लोक ३-१७ आहे.

(२) याच्या समान ईश उपनिषद श्लोक ५ व मुण्डक उपनिषद श्लोक

३-१-७ आहेत.

गीता तत्त्व दर्शन \* १३१

## प्रकरण - ८

### गीतोक्त परम ध्येय

#### ब्रह्मप्राप्ति

गीतेच्या प्रशस्तीत एका प्रसिद्ध श्लोकात म्हटले आहे.

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः ।

पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीताऽमृतं महत् ॥ ( गीताध्यानम् - ४ )

“ सर्व उपनिषदे ( जणू ) गावी, श्रीकृष्ण त्यांचे दूध काढणारा गवळी, आणि अर्जुन ते दूध पिण्यास उत्सुक वासरू असून, गीता महान अमृतासमान दूध आहे. ” अशाप्रकारे गीतेला उपनिषदादि आर्ष वाङ्मयाच्या चिंतनातून निघालेले प्रासादिक नवनीत मानले गेले आहे हे ध्यानात घेतले, म्हणजे अंतिम ध्येयाबाबत तिची त्या वाङ्मयाशी एकवाक्यता साहजिकच आहे.

गीतेच्या अनुसार जीवनाचे अंतिम ध्येय व्यक्तिरूप आत्म्याचे सर्वव्यापी परम ' ब्रह्म ' शी एकत्वप्राप्ति हे आहे; त्याला ' ब्रह्मनिर्वाण अवस्था ' म्हटले आहे ( २-७२ ). ह्या अवस्थेच्या अधिक स्पष्टीकरणात गीता म्हणते -

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेवयः ।

स योगीब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥५-२४॥

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ।

छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥२५॥

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।

अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥२६॥

“ अंतःकरणात पूर्ण समाधानी व आत्मचिंतनात रत असून ज्याचे हृदय ( ज्ञानरूप ) ज्योतीने प्रकाशित आहे, असा परब्रह्माशी एकरूप झालेला योगी सर्वोच्च निर्वाण स्थिती प्राप्त करतो. - २४ ज्यांचे सर्व दोष नष्ट होऊन

१३० \* गीता तत्त्व दर्शन



सर्व प्राण्यांना ( कल्पांभी ) उत्पन्न करणारे ( ब्रह्मरूप ), पालन करणारे ( विष्णुरूप ) व संहार करणारे ( रुद्ररूप ) आहे. - १६ ते सर्व प्रकाशयुक्त ज्योतींना प्रकाश देणारी ( आद्य ) ज्योती असून, त्याला अंधःकाराच्या सर्वत्र अतीत म्हटले आहे; ते साक्षात ज्ञानस्वरूप आहे, ज्याचे प्रत्यक्ष ( अनुभूतीद्वारा ) ज्ञान प्राप्त करून घ्यावे असे ते ( अंतिम ) ज्ञेय आहे, आणि ज्याची अनुभूती ( केवळ ) विशुद्ध आत्मज्ञानद्वाराच होऊ शकते असे ते सर्वांच्या हृदयात स्थित आहे - १७”

परम ब्रह्मतत्त्वाला तीन विशिष्ट उच्चारानी संबोधिले जाते.

उत्तमसदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ।

ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥१७-२३॥

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः ।

प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥२४॥

तदित्यनभिसंधाय फलं यज्ञतपःक्रियाः ।

दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः ॥२५॥

“ ॐ ( पाहा श्लोक ८-१३ ), ‘तत्’ ( पाहा औपनिषदिक वचन ‘तत् त्वम् असि’ ), व ‘सत्’ ( पाहा छांदोग्य उपनिषद ६-१ ‘सत् एवं सोम्य इदम् अग्रआसीत्’ ) या तीन प्रकारांनी ( परम ) ब्रह्माला संबोधित केले गेले आहे, त्यानेच सृष्टी आरंभसमयी ब्राह्मण म्हणजे सर्व मानव प्रजा, (१) वेद व यज्ञ ( पाहा श्लोक ३-१० ) निर्माण केले - २३. म्हणून ॐ उच्चाराने ( ब्रह्माला आवाहन करून ) वेदज्ञ विद्वानांच्या यज्ञ, दान, तप क्रिया सतत शास्त्रोक्त विधीने होत असतात - २४. ( ॐ ) ‘तत्’ असा उच्चार करून ( ब्रह्माला आवाहन करून ), फलाचे ठायी अपेक्षा न ठेवता, मोक्षाची इच्छा करणारे नाना प्रकारच्या यज्ञक्रिया, दानक्रिया व तपक्रिया करत असतात - २५. ”

परम अक्षर ‘ पुरुष ’

गीता वैयक्तिक मानवाचे ( पुरुषाचे ) दोन स्वरूप मानते - सर्वसामान्य ऐहिक जीवनात वावरणारा ‘क्षर’ ( जीवात्मा ), व त्याचे शुद्ध स्वरूप ‘अक्षर’ ( शुद्धात्मा ). या दोन्हीपेक्षा अतीत ‘उत्तम पुरुष’, ‘परमात्मा’, असून तो या समयी श्रीकृष्णरूपाने व्यक्त होता.

(१) महाभारत शांतिपर्व अध्याय ३१८ “ सर्वे वर्णा ब्राह्मणा ब्रह्मजाश्च”, याशिवाय प्रकरण १० मध्ये उद्धृत अध्याय १८८ चा श्लोकही पाहा.

१३२ \* गीता तत्त्व दर्शन

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।

यो लोकत्रयमाविश्य विभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥१५-१७॥

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।

अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥१८॥

यो मामेवमसंभूदो जानाति पुरुषोत्तमम् ।

स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥१९॥

इति गुह्यतमं शान्त्रमिदमुक्तं मयानघ ।

एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्न्यात्कृतकृत्यश्च भारत ॥२०॥

“ परंतु ‘उत्तम पुरुष’ ( उक्त दोन्ही पुरुष स्वरूपाहून ) भिन्न असून त्याला परमात्मा म्हणतात, तो अविनाशी ईश्वर तिन्ही लोकांना व्याप्त करून ( त्यांचे ) पालनपोषण करतो. - १७ मी ( परमात्मा ) क्षर पुरुषाच्या अतीत व ( वैयक्तिक शुद्धात्मा स्वरूप ) अक्षर ( पुरुष ) हूनही श्रेष्ठ आहे ( पाहा मुण्डक उपनिषद, “ दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो अजः । अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात् परमः परः ॥२-१-२), म्हणून संसारात तथा वेदामध्ये मला पुरुषोत्तम म्हटले आहे. - १८ अर्जुना, जो ज्ञानी अशा पुरुषोत्तम स्वरूपात मला जाणतो तो सर्वज्ञ असून अनन्यभावाने माझी भक्ति करतो. - १९ निष्पाप अर्जुना, मी तुला हे अति गूढ ज्ञान सांगितले आहे; हे जाणल्याने ( पूर्ण आत्मसात केल्याने ) व्यक्ती वास्तविक बुद्धिमान व कृतार्थ होतो ( श्रेय प्राप्त करतो ) - २०. ”

परमात्मा परम अक्षर आहे. सातव्या अध्यायाच्या समाप्तीत श्रीकृष्ण म्हणाले,

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये ।

ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम् ॥७-२९॥

“ वृद्धावस्था व मरण ( द्वारा व्याप्त ऐहिक जीवना ) पासून मुक्त होण्याचा प्रयत्न करण्यासाठी जे माझी भक्ति करतात ते ते ब्रह्म, संपूर्ण ‘अध्यात्म’ ज्ञान व संपूर्ण ( आध्यात्मिक ) कर्म जाणतात. ” यावर अर्जुनाने विचारले की, ते ‘ब्रह्म व अध्यात्म’ आणि ‘कर्म’ काय आहे ? ( ८-१ ) श्रीकृष्णांनी उत्तर दिले.

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते ।

भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥८-३॥

“ परम ‘अक्षर’ ला ब्रह्म व त्याच्या मूल ( सच्चिदानंद ) स्वरूपाला ‘अध्यात्म’ म्हणतात; ( प्रत्येक कल्पाचे आरंभी चराचर पदार्थांचा उत्पत्ती ( व त्यांचे पालन आणि कल्पांती लय आदि ) या सृष्टि व्यवहाराला ‘कर्म’

गीता तत्त्व दर्शन \* १३३



नांव दिले गेले आहे. ” (१) अशाच प्रकारे परमेश्वराचा ‘परमं पुरुषं दिव्यं’ (८-८) व ‘परं पुरुषम्’ (८-१०) असा उल्लेख आला आहे.

‘पुरुष’ च्या या तीन स्वरूपांचा परस्पर संबंध श्रीकृष्णांच्या या वचनाद्वारे दिग्दर्शित होतो -

ममैवांशो जीवलोकै जीवभूतः सनातनः

मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥१५-७॥

“या जीवलोकात ( इहलोकात ) माझाच सनातन अंश ( वैयक्तिक ) जीवनरूप धारण करून प्रकृतीत स्थित मन व पाच ज्ञानेन्द्रिये या सहांना खेचून घेतो. ” येथे ‘मम’ शब्द परमेश्वरासाठी आहे; त्याचा ‘सनातन अंश’ म्हणजे प्रत्येक व्यक्तीत स्थित शुद्धात्मा, आणि ‘जीवभूतः’ शब्द संसारी वैयक्तिक जीवात्मे दर्शवितो.

शरीरं यदवाप्नोति यश्चाप्युत्क्रामतीश्वरः ।

गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥८॥

श्रोतं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च ।

अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥९॥

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम् ।

विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥१०॥

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् ।

यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ॥११॥

“ज्याप्रमाणे ( पुष्पफलादि ) उगमस्थानापासून वायू ( अदृश्य प्रकारे ) सुगंध घेऊन जातो, त्याप्रमाणे ( सृष्टीचा ) स्वामी ( परमेश्वर ) जेव्हा ( अंशरूपाने ) शरीर प्राप्त करतो व ( त्यातून ) बाहेर येतो, तेव्हा यांना ( पंचेन्द्रियांना व मन यांना ) बरोबर घेऊन जातो. - ८ कान, डोळे, त्वचा, जिह्वा, नाक व मन यांच्याद्वारे हा ( जीवात्मा रसांत ) विषय भोगतो. - ९ या ( शुद्धात्म्या ) ला शरीरात असण्याचे वेळी, त्रिगुणांशी संबद्ध ( होऊन

(१) येथे शंकराचार्य ‘विसर्ग’ चा अर्थ ‘त्याग’ करून, त्याचा संबंध यज्ञकर्माशी ( ज्यात देवांना अर्पण हेतु चरु, पुरोडाश, द्रव्य आदि चा त्याग केला जातो ) जोडतात, आणि म्हणतात की, या यज्ञाने वृष्टि आदिद्वारा ( गीता ३-१४ ) प्राण्यांची उत्पत्ती होते. परंतु मध्याचार्य “विशेषेण सर्जनं विसर्ग इत्यर्थः” असा अर्थ देतात, आणि रामानुजाचार्य यात प्राणी निर्माण करणारे स्त्री-पुरुष संबंधरूप कर्म पाहतात.

कर्म करीत ) असताना, अथवा शरीर त्याग समयी, अज्ञानी जाणत नाहीत, परंतु ज्ञान दृष्टि संपन्न त्याला अनुभवतात. - १० सतत साधनेत रत ( परम ) योगी स्वतःत स्थित त्याचा ( आत्मतत्त्वाचा ) प्रत्यक्ष अनुभव करतात; परंतु स्वतः ( च्या इन्द्रियादि ) वर नियंत्रण न करणारे अशुद्ध चित्ताचे व्यक्ती प्रयास करूनही त्याचा अनुभव करू शकत नाहीत - ११. ”

परम पुरुष - अव्यक्त आणि व्यक्त

परम पुरुष मूलतः अव्यक्त आहे. आद्य अचेतन ‘प्रकृति’ देखील अव्यक्त होऊन प्रत्येक कल्पाचे आरंभी भौतिक पदार्थांच्या द्वारे व्यक्तरूप धारण करते.

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्षद्ब्रह्मणो विदुः ।

रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥८-१७॥

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।

रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥१८॥

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।

रात्र्यागमेऽवशाः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ॥१९॥

“सत्य, त्रेता, द्वापर व कलि हे चार मानव युग मिळून होणारे ( देवांचे ) एक युग जेव्हा एक हजार वेळा होऊन जाते, तेव्हा ब्रह्मदेवाचा एक दिवस होतो, आणि अशाच सहस्र युगांनी ( ब्रह्मदेवाची ) एक रात्र होते, हे असे ( देवांचे ) अहोरात्र जाणणारे मानतात. - १७ ब्रह्मदेवाच्या दिवसाच्या आरंभी अव्यक्त ( अचेतन मूल प्रकृति ) पासून सर्व व्यक्त पदार्थ उत्पन्न होतात, आणि रात्र ( आरंभ झाली म्हणजे अव्यक्त नामक ( स्वरूप ) त्याच मूळ प्रकृतीत लय होतात. - १८ अर्जुना, तोच हा सर्व ( चराचर ) भूत समुदाय पुनः पुनः उत्पन्न होऊन ब्रह्मदेवाच्या रात्रिप्रारंभी अनिवार्यतः विलीन होतो, आणि दिवसाच्या आरंभी पुनः उत्पन्न होत राहतो - १९. ”

जरी ही अव्यक्त प्रकृति परम ‘ब्रह्म’ चेच एक अंग आहे (७-४), तरी सर्वमूलक परम अव्यक्त ब्रह्म तिच्या अतीत आहे.

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः

यः सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥२०॥

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् ।

यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥२१॥

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्या ।

यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥२२॥



“परंतु, त्या ( अचेतन ) अव्यक्ताच्या ( प्रकृतीच्या ) अतीत अन्य सनातन ( चेतन ) अव्यक्त आहे, जे सर्व प्राण्यांचा नाश झाल्यावर नष्ट होत नाही. - २० त्याला अक्षर अव्यक्त म्हटले जाऊन ती ( प्राण्यांसाठी ) परमपति म्हणतात, जी प्राप्त करणारा परत ( इहलोकी ) येत नाही, ते माझे परमधाम ( निवासस्थान ) आहे. (१) - २१ अर्जुना, अनन्य भक्ति ( उपासना ) द्वारा त्या परम पुरुषाची प्राप्ती होते, ( सर्व ) प्राणी त्यात समाविष्ट आहेत, त्याने हे सर्व ( विश्व ) व्याप्त केले आहे - २२.”

विभिन्न देवांत एकमेव ईश्वर.

गीता जनतेत प्रचलित अनेक देवविषयक धारणांच्या मुळाशी अंतिम एक ईश्वर प्रतिपादन करते. श्रीकृष्ण रूपात व्यक्त परमेश्वर म्हणतो, ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।

मम वर्तमानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥४-११॥

काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः ।

क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥१२॥

“जे ज्या देव रूपात श्रद्धा ठेवून माझी उपासना करतात त्यांना मी त्याच रूपात संतुष्ट करतो. अर्जुना, सर्व मानव अंतर्गतवा माझ्या उपासनेचा मार्ग अनुसरतात. (२) - ११ या इहलोकात ( यज्ञदानादि ) कर्मांच्याद्वारे ( सुखोपभोगरूपी ) सिद्धी इच्छणारे ( इद्रादि ) देवांचे यजनपूजन करतात; कारण मनुष्य लोकात ( यज्ञादि ) कर्मांच्याद्वारे प्राप्त होणारी ( अशी इच्छापूर्तिरूप ) सिद्धि ( निष्काम ईश्वरभक्ति केल्याने, पाहा ६-४५, ७-११, प्राप्त होणाऱ्या मोक्ष सिद्धीपेक्षा ) शीघ्र प्राप्त होते - १२.”

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः

तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ॥७-२०॥

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयाचिंतुमिच्छति ।

तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥२१॥

(१) कठ उपनिषद १-३-११, “महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः । पुरुषान्न परं किंचिसा काष्ठा सा परागतिः ॥” ( मूल अव्यक्त प्रकृतीच्या सृष्टि प्रारंभ समयीच्या सर्वप्रथम रूपाला ‘महत्’ म्हणतात ) .

(२) या श्लोकाची द्वितीय पंक्ती श्लोक ३-२३ मध्ये वेगळ्या संदर्भात वेगळ्या आशयाने आली आहे.

स तथा श्रद्धया युक्तस्तस्या राधनमीहेत ।  
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान् ॥२१॥  
अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।

देवादेवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥२३॥

“ज्यांचे ज्ञान आपापल्या कामेच्छांनी भ्रमित होऊन ते स्वतःच्या मनोवृत्तीस अनुरूप आपापल्या उपासनेचा विधि पालन करतात, ते ( माझ्या ऐवजी ) अन्य देवांची उपासना करतात. - २० जो जो भक्त ज्या ज्या ( देव ) रूपाची श्रद्धापूर्वक उपासना करू पाहतो, त्याची त्याची तीच ( तथेच ) श्रद्धा मी स्थिर करतो. - २१ त्या श्रद्धेने युक्त तो ( त्या ) देवाची उपासना करतो, आणि त्याच्यापासून इच्छित भोग प्राप्त करतो, जे ( वस्तुतः ) मीच प्रदान केलेले असतात. - २२ त्या अल्प बुद्धीच्या व्यक्तींना मिळणारे ते ( कामभोगरूप ) फल अशाश्वत असते; अशा प्रकारे ( अन्य ) देवांचे यजनपूजन करणारे त्या देवांजवळ ( त्या देवलोकांना ) जातात; माझे भक्त मजकडेच येतात. ” - २३

श्रीकृष्ण हे अध्याय ९ मध्ये पुनः सांगतात.

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।

तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्यविधिपूर्वकम् ॥९-२३॥

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ।

न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ॥२४॥

यान्ति देवव्रता देवान्पितृन्यान्ति पितृव्रताः ।

भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥९-२५॥

“अर्जुना, जे श्रद्धायुक्त भक्त ( माझ्याशिवाय ) अन्य देवदेवतांचे यजनपूजन करतात ते देखील अप्रत्यक्षरीत्या माझेच यजनपूजन करत असतात. - २३ कारण, सर्व यज्ञात हवन स्वीकारणारा व ( फलदाता ) स्वामी वस्तुतः मी असतो; परंतु ( अन्य देवांचे यजनपूजन करणारे ) ते मला वास्तवरूपात जाणत नाहीत, म्हणून ( मला प्राप्त न होता ) अन्यत्र भटकत राहतात. - २४ ( परिणामतः ) देवांचे पूजन करणारे देवलोकांना जातात, पितरांचे पूजन करणारे पितृलोकांना जातात, भूत पिशाचादींचे पूजन करणारे ( पाहा १७-४ ) भूत लोकांना जातात, आणि माझे पूजन करणारे माझ्याकडे येतात - २५.”

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः ।

परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥७-२४॥

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।



मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥२५॥

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन ।

भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ॥२६॥

“माझे परम अव्यय स्वरूप न जाणणारे अज्ञानी ( मूलतः ) अव्यक्त अशा मला व्यक्तीरूप धारण करणारा समजतात. - २४ मी ( माझ्या ) योगशक्तीचे मजवर आवरण टाकतो, म्हणून मी ( माझ्या मूल स्वरूपात ) सर्वांना ज्ञात होत नाही, आणि हे ( सामान्य ) अज्ञ मानव वस्तुतः आदिअंतरहित असणाऱ्या मला ( वास्तवरूपात ) जाणत नाहीत. - २५ अर्जुना, मी भूतकालीन, वर्तमान व भविष्यात होणारे प्राणी जाणतो, परंतु कोणीही ( साधारण मानव ) मला ( माझ्या मूल रूपात ) जाणत नाही - २६.”

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।

परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥२७॥

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः ।

राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥२८॥

“सृष्टीचा सर्वश्रेष्ठ स्वामी असा मी जेव्हा ( धर्मसंस्थापनेसाठी प्रसंगानुसार ) मनुष्य देह धारण करतो, तेव्हा माझे वास्तविक परम स्वरूप न जाणणारे अज्ञानी ( मलां साधारण मानव समजून ) माझा अनादर करतात - २७. त्यांच्या सर्व आशा आकांक्षा व्यर्थ होतात, कर्म व्यर्थ जातात, व ( त्यांना जे काही असेल ते ) ज्ञानही व्यर्थ होऊन जाते, आणि भ्रमित चित्त होऊन ते राक्षसी आसुरी स्वभावाच्या मोहाला वश होतात. ” - २८ ( पाहा महाभारत वनपर्व अध्याय १६३, “मोघेष्टा ज्ञोघसंकल्पा मोघज्ञाना विचेतसः ” )

याच्या विपरीत-

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।

भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥२९-३३॥

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः ।

नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥३४॥

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते ।

एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ॥३५॥

“परंतु, अर्जुना, दैवी ( साधु ) स्वभावाचे महात्मे ( सर्व ) प्राण्यांचे अविनाशी उगमस्थान अशा मला जाणून एकनिष्ठेने माझी भक्ति करतात - २९. ( दैवी स्वभावाचे ) ते दृढतापूर्वक स्वतःवर नियंत्रण ठेवून, चित्त नित्य ( समत्वरूप ) योगात स्थिर करून, सतत माझे कीर्तन करीत व मला नमन

१३८ \* गीता तत्त्व दर्शन

करीत माझी उपासना करतात. - १४ आणि ( दैवी स्वभावाचे ) अन्य कोणी विश्वव्यापी अशा माझे सर्वमेव एकत्व ( निर्गुण अव्यक्त ) स्वरूपात, ( पुरुष व प्रकृति या ) दोन भिन्न स्वरूपात, व अनेक प्रकारे व्यक्त स्वरूपात ज्ञान प्राप्त करून, अशा ज्ञान ( रूप ) यज्ञानेही भजन ( पूजन ) करीत माझी उपासना करतात - १५.”

भूव एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः ।

यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ॥१०-१॥

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः ।

अहमादिहिं देवानां महर्षीणां च सर्वशः ॥२॥

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम् ।

असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥३॥

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा ।

मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥६॥

“अर्जुना, आणखी माझे परमश्रेष्ठ वचन श्रवण कर. तू मला श्रद्धापूर्वक श्रवण करीत आहेत म्हणून तुझ्या हितार्थ मी हे कथन करीत आहे. - १ माझा उद्गम देवगण जाणत नाहीत, व महर्षीही जाणत नाहीत, कारण मी सर्व देवांचे व महर्षीचे आदिस्थान आहे. - २ जन्मरहित, अनादि व ( इह, पर आणि समग्र ) लोकांचा स्वामी असणाऱ्या मला जो ( वास्तव स्वरूपात ) जाणतो तो मानवात ( खरा ) ज्ञानी असून सर्व पापांपासून मुक्त असतो. - ३ ज्यांच्यापासून जगाची ही ( सर्व ) प्रजा उत्पन्न झाली ते आदिकालीन सात महर्षी व चार दिशांचे विशिष्ट महर्षी ( पाहा महाभारत शांतिपर्व अध्याय २०८ ) आणि सर्व मनु, माझे मानसपुत्र असून माझी रूपे आहेत - ६.”

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः ।

सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः ॥७॥

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।

इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥८॥

“हे माझे ( सर्वव्यापी ) स्वरूप व माझे योगसामर्थ्य जो वास्तविक जाणतो, तो स्थिर ( बुद्धि ) योगाने संपन्न होतो यात संशय नाही. - ७ मी समग्र ( विश्वा ) चे उगमस्थान असून माझ्यापासूनच सर्व उत्पन्न होते हे जाणून ज्ञानी पूर्ण निष्ठापूर्वक माझी भक्ति करतात - ८.”

श्रीकृष्णांचे हे मूल सर्वव्यापक अनादि स्वरूप अर्जुनानेही व्यक्त केले आहे. अर्जुन म्हणाला,

गीता तत्त्व दर्शन \* १३९



शंकर मी आहे, यक्षराक्षसांचा ( स्वामी ) धनपति ( कुबेर ) मी आहे, आठ वसूंत मी पावक ( अनल, अग्नि ) आहे, आणि पर्वतात मी मेरू आहे - २३.”

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन ।

अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम् ॥१०-३२॥

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च ।

अहमेवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतोमुखः ॥३३॥

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन ।

न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ॥३४॥

“ अर्जुना, ( प्रत्येक कल्पाचे प्रारंभी होणाऱ्या सृष्टीचा मी निर्माता व विलयस्थान आहे ( पाहा १-७, ८ ), आणि मध्य ( पालनकर्ता ) देखील आहे; विद्यांमध्ये मी अध्यात्मविद्या आणि प्रवचनकारांची विवेचन बुद्धि आहे. ३२ अक्षरात मी ( आदि व सर्वगामी ) ‘ अ ’कार आहे, आणि सामासिक वाक्प्रयोगात मी ( सर्व समासात असणारा शब्दांचा ) द्वंद्व ( जोड ) मी आहे; मीच अनंत काल आहे, मी विश्वव्यापी विश्वपालनकर्ता आहे. - ३३ अर्जुना, समग्र वस्तूंचे जे बीज ( उगमस्थान ) ते मी आहे ( पाहा १४-४ ), माझ्याशिवाय असेल असा कोणताही चलअचल पदार्थ नाही - ३४.”

अर्जुनही म्हणतो,

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराण-

स्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।

वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम

त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ॥१-३८॥

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः

प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च ।

नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः

पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ॥३९॥

“ तुम्ही आदिदेव सनातन पुरुष आहां, तुम्ही या विश्वाचे मूलाधार आहां, तुम्ही अंतिम ज्ञेय व ( तुम्हीच त्याचे ) ज्ञाता असून, सर्व प्राण्यांसाठी परमगति आहां, हे अनंतरूपधारी, तुम्ही हे ( सर्व ) विश्व व्याप्त केले आहे. - ३८ तुम्ही वायुदेव, यम ( धर्मदेव ), अग्निदेव, वरुण ( जलदेव ), चन्द्रमा, प्रजापति ( ब्रह्मदेव ), आणि ब्रह्मदेवाचेही जनक आहां, तुम्हाला माझे सहस्रशः नमस्कार, पुनःपुनः नमस्कार - ३९.” ( श्लोक ३९ चे श्वेताश्वतर उपनिषद

गीता तत्त्व दर्शन \* १४१

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान् ।

पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ॥१०-१२॥

आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिनरिदस्तथा ।

असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे ॥१३॥

सर्वमेतदुतं मन्ये यन्मां वदसि केशव ।

न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः ॥१४॥

स्वयमेवात्मनाम्नां वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम ।

भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते ॥१५॥

“ तुम्ही परमब्रह्म, अंतिम परम पवित्र आश्रयस्थान, सनातन, दिव्य, जन्मरहित, सर्वव्यापी पुरुष व देवांचे आदिस्थान आहां. - १२ सर्व ऋषी, आणि देवर्षी नारद, असित, देवल व व्यास तुम्हाला असे म्हणतात, आणि स्वतः तुम्हीही मला तसे सांगत आहां. - १३ केशवा, तुम्ही मला जे कथन करीत आहां ते सर्व मी सत्य मानतो; हे भगवान, तुमचे ( मूल ) रूप देव जाणत नाहीत व दानव जाणत नाहीत. - १४ पुरुषोत्तमा, सर्व प्राण्यांचा निर्माता, प्राण्यांचा पालनकर्ता, जगाचा स्वामी, असे तुम्ही स्वतःच स्वतःला जाणता. ” - १५

आपल्या मूल सर्वव्यापक स्वरूपाचे आणखी वर्णन करीत श्रीकृष्ण म्हणतात,

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।

अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ॥१०-२०॥

“ अर्जुना, मी सर्व प्राण्यांच्या हृदयात स्थित आत्मतत्त्व आहे, आणि मी संपूर्ण प्राण्यांचा आदि, मध्य व अन्तस्थान देखील आहे.”

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरशुभान् ।

मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ॥१०-२१॥

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः ।

इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना ॥२२॥

रुद्राणां शंकरश्चास्मि वितेशो यक्षरक्षसाम् ।

वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम् ॥२३॥

“ ( बारा ) आदित्यात ( अदिती पुत्रांत ) मी विष्णु, प्रकाशयुक्तात किरणधारी सूर्य आहे, मरुद्गणांत ( वायुदेवांत ) मी मरीचि आहे, नक्षत्रांचा ( स्वामी ) चन्द्र मी आहे. - २१ वेदांमध्ये मी सामवेद आहे, देवांत मी इन्द्र आहे, इन्द्रियात मी मन ( अन्य इन्द्रियांना प्रेरित करणारे अंतरिन्द्रिय ) आहे, आणि प्राण्यांची चेतना ( जीवनशक्ति ) मी आहे. - २२ ( अकरा ) रुद्रांत

१४० \* गीता तत्त्व दर्शन



श्लोक ४-२ शी स्पष्ट साम्य आहे. )

गीतेद्वारा प्रतिपादित 'ब्रह्म'चे स्वरूप मूलतः अव्यक्त आणि प्रसंगानुसार व्यक्त असे उभय प्रकारचे असण्याशिवाय, त्याचे आणखी एक वैशिष्ट्य आहे की, त्याची चेतन व अचेतन अशी दोन रूपे आहेत. सांख्य दर्शन विश्वाच्या मूळ अचेतन अव्यक्त पदार्थाला 'प्रकृति' संबोधित करून, तिला चेतन 'पुरुष' पेक्षा स्वतंत्र अस्तित्व मानते. याशिवाय सांख्यानुसार 'प्रकृति' अष्टधा असून, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु व आकाश (ही पाच 'महाभूते') आणि बुद्धि, अहंकार व मानस ही तीन, अशाप्रकारे 'प्रकृति' ची आठ रूपे आहेत. 'बुद्धि' (महत्) मूल अव्यक्त 'प्रकृति'चे सर्वप्रथम व्यक्त (सध्या अविभाजित) रूप असून, 'अहंकार' त्या एक व्यक्त प्रकृति पासून अनेकानेक निर्माण होण्याची पृथक्त्व प्रवृत्ति आहे.

गीता अचेतन 'प्रकृति'ला स्वतंत्र अस्तित्व अमान्य करून, तिला मूलतः सर्वोच्च 'पुरुष'चेच एक अंग मानते. परंतु इतका भेद ठेवून, गीता 'प्रकृति'चे सांख्य प्रतिपादित 'अष्टधा विभाजन' मान्य करते. आणि गीता 'प्रकृति' संबोधन केवळ अचेतनासाठी सीमित न ठेवता, व्यक्त जगाच्या चेतन अंशालाही लावून, 'ईश्वरी प्रकृति'चे परा व अपरा असे दोन भेद करते.

सातव्या अध्यायात श्रीकृष्ण परमेश्वराचे हे द्विविध स्वरूप स्पष्ट करून त्यात संसाराचा उगम दाखवितात. प्रथम श्रीकृष्ण अर्जुनाला या ज्ञानाचे महत्त्व सांगतात.

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः ।

असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यासि तच्छृणु ॥७-१॥

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ।

यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥२॥

“ अर्जुना, माझ्यात मन लावून, माझ्यात श्रद्धा ठेवून, ( बुद्धि- ) योगाचे पालन करीत, सर्व संशय नष्ट होऊन, तू मला संपूर्ण कसा जाणशील ते श्रवण कर. - १ मी तुला विज्ञानासहित हे ज्ञान पूर्ण कथन करतो, जे जाणल्यावर जीवनात आणखी काही जाणण्यायोग्य शेष राहत नाही- २.”

( पाहा श्वेताश्वतर १-१-१२ )

श्रीकृष्ण आपले कथन सांख्यप्रतिपादित अष्टधा प्रकृतिच्या सिद्धांतापासून प्रारंभ करतात -

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।

अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥४॥

“ पृथ्वी, जल, अग्नि ( तेज ), वायू, आकाश, मन, बुद्धि व अहंकार या आठ प्रकारे माझी प्रकृति विभाजित आहे. ” श्रीकृष्ण स्पष्टपणे या 'प्रकृति'ला माझी (स्वतः ईश्वराचे एक रूप) म्हणतात. यानंतर ते विश्वाच्या चेतन भागाचा उल्लेख करून, ती देखील माझी एक प्रकृति आहे असे म्हणतात -

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।

जीवभूतां महाबाहो यदेदं धार्यते जगत् ॥५॥

“ अर्जुना, ही माझी 'अपरा' प्रकृति असून, याहून अन्य या जगताचा आधार असणारी माझी जीवरूप (चेतन) 'परा' प्रकृति जाणून घे. ”

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय ।

अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥६॥

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनंजय ।

मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥७॥

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः ।

प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ॥८॥

पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ ।

जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ॥९॥

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् ।

बुद्धिबुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥१०॥

बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम् ।

धर्माविरूद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ॥११॥

“ या ( माझ्या प्रकृति ) पासून सर्व पदार्थ निर्माण होतात हे जाणून घे; मी सर्व जगाचे उगमस्थान व विलयस्थानही आहे. - ६ अर्जुना, माझ्याहून श्रेष्ठ काही नाही. ” ( पाहा श्वेताश्वतर उपनिषद ३-९, 'यस्मात् परं नापरमास्ति किञ्चित्' ). “ ज्याप्रकारे मणि समुदाय एका सूत्रात गुंतवला जातो त्या प्रकारे हे सारे ( विश्व ) माझ्यात गुंतले आहे. - ७ अर्जुना जलात रस मी आहे, चन्द्रसूर्याचा प्रकाश मी आहे, सर्व देवातला 'ओंकार' मी आहे, आकाशाचा शब्दगुण ( ध्वनि ) मी आहे, मानवाचे मानवत्व मी आहे. - ८ पृथ्वीचा मंगल सुगंध व अग्निचे तेज मी आहे, सर्व जीवांची जीवनशक्ति व तपस्वीजनांचे तपत्व मी आहे. - ९ अर्जुना, मला सर्व वस्तूंचे सनातन बीज ( उद्गमस्थान ) रूप जाण, बुद्धिवानांची बुद्धि व तेजस्वी व्यक्तींचे तेज मी आहे. - १० अर्जुना, मी बलवानांचे कामासक्तिरहित ( सत्प्रवृत्त ) बल आहे, आणि मी प्राण्यात धर्मानुकूल काम आहे - ११. ”



सातव्या अध्यायाच्या समाप्तीत श्रीकृष्ण त्यांच्या अचेतन प्रकृतिसाठी 'अधिभूत' व चेतन प्रकृतिसाठी 'अधिदैव' शब्द प्रयुक्त करतात-

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः ।

प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तेतसः ॥७-३०॥

“जे मला अधिभूत व अधिदैव आणि अधियज्ञ या माझ्या स्वरूपांसह प्रयाणकालीही अनुभव करतात ते योगावस्थेत चित्त स्थिर ठेवणारे मला (वास्तविक) जाणतात.”

यावर अर्जुनाने प्रश्न केला,

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम ।

अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ॥८-१॥

अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन ।

प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः ॥२॥

“पुरुषोत्तम, हे 'ब्रह्म' काय आहे? 'अध्यात्म' काय आहे? 'कर्म' कशाला म्हणतात? मधुसूदना, 'अधिभूत' कोणाला म्हणतात? 'अधिदैव' कोणाला म्हणतात? (प्राण्यांच्या) या देहात 'अधियज्ञ' कोण कसा असतो? आणि मृत्युसमयी आत्मसंयमी (योगी) तुम्हाला कशाप्रकारे जाणतात? - २.”

श्रीकृष्णांनी उत्तरात म्हटले,

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते ।

भूतं भावोद्भवकरो विसर्गः कर्म उच्यते ॥३॥

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम् ।

अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभूतां वर ॥४॥

“जे परम अक्षर (अविनाशी) तें 'ब्रह्म', प्रत्येक वस्तूचें जें मूल स्वरूप (स्वभाव) तें 'अध्यात्म', आणि (परम ब्रह्मापासून) चराचर विश्वाच्या उत्पत्तीला (विसर्ग) 'कर्म' म्हटले आहे. - ३ श्रेष्ठ देहधारी अर्जुना, 'अधिभूत' म्हणजे माझे (परमेश्वराचे) क्षर स्वरूप (ती जड प्रकृति जिच्यापासून प्राण्यांच्या शरीरासह सर्व अचेतन पदार्थ उत्पन्न होतात), 'अधिदैवत्' म्हणजे (माझेच अन्य अंश रूप चेतन) पुरुष (प्रत्येक प्राण्यात असणारा आत्मा) (पाहा. 'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः' १५-७), आणि 'अधियज्ञ' (सर्व यज्ञांचा स्वामी ५-२९, ९-२४) प्रत्येक प्राण्यात स्थित स्वतः मी (परमेश्वर) - ४.”

हर कल्पाच्या आरंभी सृष्टि निर्माण करणारी मूल प्रकृति वस्तुतः

परमेश्वराचेच एक अंग असते हे श्रीकृष्ण पुढील श्लोकात सांगतात. सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम् ।

कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ॥९-७॥

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः ।

भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥८॥

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः स्यूते सचराचरम् ।

हेतुनानेय कौन्तेय जगविपरिवर्तने ॥१०॥

“अर्जुना, कल्पाच्या अंती सर्व प्राणी माझ्या प्रकृतीत विलीन होतात, आणि (अन्य) कल्पाच्या आरंभी मी त्यांना पुनः निर्माण करतो - ७. माझे एक अंग असलेल्या प्रकृतीद्वारा मी या समस्त प्राण्यांना जे (पुनर्जन्मार्थ) (त्या) प्रकृतीच्या अधीन असल्याने बाध्य होतात, (त्यांच्या कर्मानुसार) पुनः पुनः निर्माण करतो. - ८ माझ्या नियंत्रणात प्रकृति चराचर विश्व निर्माण करते, आणि या कारणाने जगाचे (उत्पत्ती-स्थिति-स्वरूप) परिवर्तन होत असते - १०.”

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।

यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥१५-१२॥

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा ।

पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ॥१३॥

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।

प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥१४॥

“सूर्याचे जे तेज संपूर्ण जगाला प्रकाशित करते, जे चंद्रात आहे व जे अग्नीत आहे, ते माझे तेज जाण. - १२ मी पृथ्वीत प्रवेश करून (पृथ्वीवर राहणाऱ्या) प्राण्यांना माझ्या शक्तीने आधार देतो, आणि रसात्मक सोम (जीवताला आवश्यक पदार्थ) रूप होऊन सर्व वनस्पतींचे पोषण करतो. - १३ मी प्राण्यांच्या शरीरात वैश्वानर अग्नि होऊन सर्व प्राणवायु (उच्छ्वास) व अपानवायु (श्वास) च्या साह्याने चारी प्रकारचे अन्न पचन करतो - १४.”

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।

तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोऽशंसंभवं ॥१०-४१॥

“जे जे भव्य, संपन्न तेजस्वी अस्तित्व असेल ते सर्व माझ्या (परमेश्वराच्या) तेजापासून उत्पन्न झालेले जाण.”

श्रद्धा - आवश्यकता व स्वरूप

अंतिम ध्येय केवळ तर्कद्वारा अर्जित केले जाऊ शकत नाही.



त्यासाठी श्रद्धा आवश्यक असते. मात्र साधनेच्या अंती त्याची प्रत्यक्ष अनुभूति संभव आहे ( ६-२०, ९-२, १३-२४ ). परंतु त्याचा प्रारंभिक परिचय अधिकारी गुरूच्या उपदेशाद्वारा प्राप्त केला जाऊ शकतो.

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।

उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनिः ॥४-३४ ॥

“ तत्त्वदर्शी ज्ञाते पुरुष तुला ( ते परमश्रेष्ठ ) ज्ञान सांगतील, ते तू नम्रतापूर्वक नमस्कार करून, जिज्ञासायुक्त प्रश्न विचारून, व ( त्यांची ) सेवा करून समजून घे. ” साहजिकच यासाठी साधकाला श्रद्धा व साधना आवश्यक आहे.

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।

ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥४-३९ ॥

अज्ञश्चाश्रद्धानश्च संशयात्मा विनश्यति ।

नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥४-४० ॥

“ जितेन्द्रिय, ज्ञानप्राप्तीस्तव प्रयत्नशील, अशा श्रद्धावान साधकाला हे ज्ञान प्राप्त होते. ज्ञान प्राप्त झाले म्हणजे तो शीघ्र परम शांतीच्या स्थितीला पोचतो. - ३९ ( परंतु ) अज्ञ व श्रद्धाहीन संशयग्रस्त मनुष्याचा नाश ( अधःपात ) होतो, अशा संशयग्रस्ताला इहलोकीचे सुख व परलोकाचे सुखही लाभत नाही, ( सारांश ) त्याला कोणतेही सुख लाभत नाही - ४०. ”

जेथे तर्कयुक्त बुद्धि पर्याप्त प्रकाश टाकू शकते तेथे श्रद्धा अनावश्यक आहे. परंतु जेथे तर्क पोचू शकत नाही तेथे प्रथम श्रद्धेचा आधार इष्ट आहे. मात्र अशी श्रद्धा तर्कातीत ( Super - rational ) असली तरी तर्क विरोधी ( Anti - rational ) नसली पाहिजे; अन्यथा ती अंधश्रद्धा होईल.

गीतोपदेशासंबंधीही श्रीकृष्ण म्हणतात,

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन ।

न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥१८-६७ ॥

“ कोणाही तपश्चर्याहीन, भक्तीहीन, श्रवणेच्छाहीन, अथवा माझा अनादर करणाऱ्या व्यक्तीला हे ( पवित्र ज्ञान ) कथन करू नको. ” या विपरीत -

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति ।

भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैव्यत्यसंशयः ॥६८॥

“ जो हे सर्वश्रेष्ठ गुह्य ज्ञान माझ्या भक्ताला स्पष्ट करील, तो माझी परम भक्ति करून मला येऊन पोचेल यात संशय नाही. ”

\*\*\*

## प्रकरण - ९

### वैयक्तिक आत्मस्वरूप

#### अव्यय आत्मा

कोणाही व्यक्तीच्या वर्तमान जीवनात त्याच्या आत्म्याचा आदि अंत नसून, आत्मा वर्तमान जीवनापूर्वी होता व या जीवनानंतरही राहील. श्रीकृष्ण अर्जुनास म्हणतात,

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः

न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥२-१२ ॥

“ मी, तू, ( व ) हे राजे, असे आपण सगळे पूर्वी कधी नव्हतो असे नाही, आणि पुनः होणार नाही असेही नाही. ” सामान्य भाषेत ज्याला ‘ मृत्यू ’ म्हणतात ते आत्म्याचे ‘ देहान्तर ’ असते. देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा

तथा देहांतरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥२-१३ ॥

“ देहधारी जीवास वा देहात ज्याप्रमाणे बाल्यावस्था, तारुण्यावस्था व वृद्धावस्था ( प्राप्त होतात ) त्याप्रमाणे ( मृत्युरूपी ) देहांतराची अवस्थाही ( प्राप्त होत असते ); सुज्ञ त्याबद्दल मोह ( शोक ) पावत नाहीत. ”

या संदर्भात जड ‘ मर्त्य ’ जगापेक्षा सर्वोच्च चैतन्य तत्त्वाचे भिन्नत्व स्पष्ट करीत श्रीकृष्ण म्हणतात,

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।

उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥१६॥

अविनाशी तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ।

विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥१७॥

“ जे मूलतः असत आहे ( ते काही वेळ इन्द्रियांना प्रत्यक्ष प्रतीत झाले तरी ) त्याचे नित्य ( शाश्वत ) अस्तित्व राहत नाही; आणि जे सत आहे ( ते काही



वेळ इन्द्रियांना प्रतीत न झाले तरी ) त्याचे अस्तित्व नष्ट होत नाही, तत्त्ववेत्त्यांनी या दोघांवर संपूर्ण चिंतन करून हे अनुभव केले आहे. - १६ ज्या ब्रह्मस्वरूपी आत्मतत्त्वाने हे सर्व ( विश्व ) व्यापलेले आहे ते अविनाशी जाण. या शाश्वताचा कोणीही विनाश करू शकत नाही - १७. ” प्रत्येक व्यक्तीचा आत्मा मूलतः त्या सर्वव्यापी परम चैतन्य तत्त्वाचा अंशरूप आहे. ( १०-२०, १३-३१, १५-७ ) -

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।

अनाशिनीऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ॥२-१८ ॥

न जायते म्रियते वा कदाचित्

नायं भूत्वा भविता वा न भूयः

अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो

न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥२-२० ॥

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम् ।

कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ॥२-२१ ॥

“ शरीरधारी ( आत्मा ) नित्य, अविनाशी व शाब्दिक वर्णाननीत असून, त्याची ही शरीरे नाशवंत म्हटली गेली आहेत; म्हणून ( हे ध्यानात घेऊन ) हे ( न्याय्य ) युद्ध ( निःशंक मनाने ) कर. - १८ हा कधीही मरत नाही व ( पुनः ) जन्म घेत नाही; हा एकदा अस्तित्वात आल्यावर पुढे अस्तित्वात राहणार नाही असे नाही. हा ( आत्मा ) अनादि, नित्य, शाश्वत व पुरातन असून शरीर मारले गेले तरी हा मारला जात नाही. - २० (१) अर्जुना, ज्याने हा आत्मा अविनाशी, नित्य, ( पुनः ) जन्मरहित व अव्यय आहे हे जाणले तो पुरुष कोणास कसा मारणार व स्वतः कसा मारणार ? - २१ ”

वासंसि जीर्णानि यथा विहाय

नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।

तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-

न्यायानि संयति नवानि देही ॥२॥

“ ज्याप्रमाणे मनुष्य जुनी वस्त्रे टाकून दुसरी नवी धारण करतो, त्याप्रमाणे देहधारी आत्मा जुनी शरीरे त्यागून दुसरी नवी धारण करतो. ”

(१) कठ उपनिषदातला हा श्लोक पाहा, “ न जायते म्रियते वा विपश्चित् । नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित् । अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो । न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ (१-२-१८)

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।

न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥२३॥

अच्छेद्योऽयमदाहोऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।

नित्यः सर्वगतः स्थानुरचलोऽयं सनातनः ॥२४॥

अव्यक्तोऽयमचिंत्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते

तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥२-२५ ॥

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत

तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ॥२-३० ॥

“ याला ( आत्म्याला ) शस्त्रे कापू शकत नाही, याला अग्नी जालू शकत नाही, याला जल डुबवून नष्ट करू शकत नाही, आणि वायू याला शुष्क ( चैतन्यहीन ) करू शकत नाही. - २३ हा न कापला जाऊ शकणारा, न जाळला जाणारा, न डुबवून नष्ट केला जाणारा, आणि न शुष्क केला जाऊ शकणारा, नित्य, सर्वव्यापी, अचल, स्थिर व शाश्वत आहे. - २४ हा आत्मा अव्यक्त ( इंद्रियांनी न अनुभविला जाणारा ), अचिंत्य ( तकनि आकलन न होणारा ), व अविकारी आहे असे म्हटले आहे; तरी याचे हे स्वरूप जाणून तू शोक करणे उचित नाही. - २५ सर्वांच्या देहांत वसणारा हा आत्मा नित्य व अवध्य असल्याने कोणाही प्राण्या ( च्या मृत्यू ) बदल तू शोक करणे उचित नाही - ३०. ”

चैयक्तिक आत्म्याच्या दोन अवस्था

गीतेतील “ नायं हन्ति न हन्यते ” ( २-१९ ) या ( वर उद्धृत )

वचनांचा सूक्ष्म आशय ध्यानात घेणे आवश्यक आहे.

गीता व्यक्तीरूप ‘ पुरुष ’च्या दोन अवस्था ( स्तर ) मानते -

‘ क्षर ’ ( जन्ममरणाधीन ) व ‘ अक्षर ’ ( अविनाशी ).

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।

क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥१५-१६ ॥

“ या लोकी ‘ क्षर ’ ( नाशवंत, परिवर्तनशील ) व अक्षर ( अविनाशी ) असे दोन प्रकारचे ( व्यक्तीरूप ) पुरुष आहेत; त्यातील ‘ क्षर ’ सर्व प्राण्यात ( भिन्न भिन्न व्यक्तित्वाने ) राहणारा असून, त्याच्या विशुद्ध ( कूटस्थ ) रूपाला ‘ अक्षर ’ म्हणतात. (१)

(१) पाहा महाभारत शांतिपर्व, अध्याय २३९, “ अक्षरं च क्षरं द्वैधीभावोऽयमात्मनः । क्षरः सर्वेषु भूतेषु दिव्यं तमृतमक्षरम् ” ( ऋतम् = सत्य )



हा पुरुषभेद ध्यानात न घेतल्याने गीतेचे काही भाष्यकार यातील 'क्षर' अर्थ 'विनाशी देह' असा करून, त्याचा संबंध व्यक्त अचेतन प्रकृतीशी लावतात. टिळक या श्लोकाच्या स्पष्टीकरणात लिहितात, "सोळाव्या श्लोकात 'क्षर' आणि 'अक्षर' हे दोन शब्द व्यक्त व अव्यक्त किंवा व्यक्त सृष्टि आणि अव्यक्त प्रकृति - या दोन सांख्यशास्त्रातील शब्दांशी समानार्थक आहेत. पैकी क्षर म्हणजे नाशवंत पंचभूतात्मक व्यक्त पदार्थ हा अर्थ उघड आहे. ...पुरुषोत्तमाच्या वरील लक्षणात 'अक्षर' या शब्दाचा अक्षरब्रह्म असा अर्थ नसून सांख्यांची अक्षर प्रकृति असा अर्थ आहे हे लक्षात ठेविले पाहिजे." ( 'गीता रहस्य' पृ. ८०९ ). परंतु श्रीकृष्ण येथे 'पुरुष' चीच दोन रूपे दाखवीत आहेत. प्रकृतीचेही व्यक्त 'क्षर' रूप आहे (८-४); परंतु श्लोक १६ मध्ये प्रकृतीचे विवेचन नसून चैतन्ययुक्त 'पुरुष' तत्त्वाचे विवेचन आहे. संत ज्ञानेश्वरांनी येथे 'क्षर' चा संबंध चैतन्ययुक्त 'पुरुष' तत्त्वाशी लावला आहे.

'पुरुष' च्या वैयक्तिक स्वरूपातच 'क्षर' व 'अक्षर' पुरुष हा भेद ध्यानात घेतल्याशिवाय गीतोक्त नीतिसिद्धांताचा वास्तविक आशय स्पष्ट होणार नाही. यातील 'क्षर' पुरुषाला आपण 'जीवात्मा' व त्याच्या 'अक्षर' स्वरूपाला 'शुद्धात्मा' म्हणू. जीवात्मा दैनंदिन जीवनाचे व्यवहार करतो, 'शुद्धात्मा' त्याचे मूल स्वरूप आहे. अर्जुनाच्या त्या समयीच्या कर्तव्याचे, आणि संपूर्ण मानव जीवन व कर्माचरणाचे, विवेचन करताना श्रीकृष्णांनी वैयक्तिक शुद्धात्माशिवाय क्षर जीवात्मावरही उचित ध्यान दिले आहे.

वैयक्तिक जीवात्मा व शुद्धात्मा या दोहोंच्या अतीत सर्वोच्च 'परमात्मा' आहे (१५-१७). वैयक्तिक 'शुद्धात्मा' मूलतः परमात्माचाच अंश आहे (१३-३१, १५-७). वैयक्तिक 'शुद्धात्मा' प्रकृतीच्या सत्त्वरजतम गुणांच्या अतीत असतो (१४-१९); याउलट वैयक्तिक 'क्षर' पुरुष (जीवात्मा) ऐन्द्रियिक सुखोपभोगात लिप्त असून, सत्त्वरजतम गुणांनी वेढलेला असतो. (१३-२१).

'अविनाशी', 'नायं हन्ति न हन्यते', 'न जायते म्रियते वा कदाचित्' आदि गीतावचने शुद्धात्म्यासाठी आहेत. जीवात्मा जन्ममरणाधीन व विभिन्न दैनंदिन कर्मे करणारा आहे. श्रीकृष्णांचा उपदेश केवळ 'शुद्धात्मा' प्रतिपादन करून "न जायते म्रियते वा कदाचित्" (२-२०) इतकेच सांगायचा असता, तर जन्ममरण चक्रापासून अंतिम मुक्ति (२-५१, ५-१७, ७-२९, ९-३, १३-८, १४-२०), आणि "स्वधर्मं

निधनं श्रेयः" (३-३५) असा उपदेश ते कां करते ?

आत्मा "नैव कुर्वन् न कारयन्" (५-१३) असे म्हणत असताही, श्रीकृष्ण म्हणतात की कर्ता तीन प्रकारचा असतो.

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः ।

सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते ॥१८-२६ ॥

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः ।

हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः ॥२७॥

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः ।

विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते ॥१८-२८ ॥

"आसक्तिरहित, अहंकारहीन, दृढनिश्चयी व उत्साही, यश-अपयश दोघांना समान क्षुब्धतारहित (न यशाने प्रफुल्लित, आणि न अपयश आल्यावर उद्विग्न होणारा) कर्ता सात्त्विक म्हटला जातो. - २६ भोगासक्त, कर्मफळाची इच्छा करणारा, लोभी, हिंसक, अशुद्ध राहणारा, (यश प्राप्त झाल्यास) हर्ष व (अपयश झाल्यास) शोक करणारा कर्ता राजस म्हटला जातो. - २७ चंचल मनाचा, असंस्कृत बुद्धीचा, ताठवृत्तीचा, शठ, दुसऱ्यास बुडविणारा, आळशी, विषाद करीत बसणारा, दीर्घसूत्री, अशा प्रकारचा कर्ता तामस म्हटला जातो - २८."

शुद्धात्म्याचे अमर्त्य स्वरूप, आणि प्रकृतीशी संबद्ध होऊन ऐहिक जीवनात होणारे त्याचे रूप, हे दोन्ही पुढील श्लोकात स्पष्ट दिग्दर्शित आहेत.

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्वयनादी उभावपि ।

विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान् ॥१३-१९ ॥

कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।

पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥२०॥

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान् ।

कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥२१॥

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः ।

परमात्मेति चायुक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः ॥२२॥

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह ।

सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥२३॥

"(मूल अव्यक्त) प्रकृति व पुरुष हे दोन्हीही अनादि जाण, आणि (रागद्वेषादि) विकार व (सत्त्वरजतम) गुण प्रकृतिजन्य जाण (जे प्रकृति-पासून उद्गम पावून तिच्यातच विलीन होतात) - १९ (प्रकृतिजन्य विकारां-साठी पाहा १३-६). शरीर (कार्य) व इन्द्रिये (करण) यांना उत्पन्न



करण्यात प्रकृतिला कारण म्हटले आहे; ( त्यांच्या व्यवहारापासून सुखदुःखे भोगण्यात ( जीवात्मरूप ) पुरुष कारण म्हटला गेला आहे. - २० ( पाहा भागवत “ कार्यकरणकर्तृत्वे कारणं प्रकृतीं विदुः । भोक्तृत्वे सुखदुःखानां पुरुषं प्रकृतेः परम् ” ३-१६-८ ). प्रकृति ( जन्म शरीर ) मध्ये स्थित ( जीवात्मरूप ) पुरुष प्रकृतीच्या ( सत्त्वरजतम ) गुणां ( नी लिप्त विषयां ) चा उपभोग घेतो; या गुणांचा संग ( संबंध ) चांगल्या वाईट योन्यांत त्याच्या ( पुनर् ) जन्माचे कारण होतो. - २१ प्रकृतिजन्य देहाच्या क्रिया जवळून पाहणारा, त्यांना अनुमोदन देणारा, ( देहाचे ) पालनपोषण करणारा, आणि ( देहाच्या क्रियांनी उत्पन्न ) सुखदुःख भोगणारा, असा या देहात ( जीवात्मा रूपाने ) वावरणारा, परंतु ( मूलतः ) देहाच्या अतीत असणारा, जो पुरुष ( शुद्धात्मा ) त्याला ( अंशरूप ) महेश्वर परमात्माही म्हटले आहे. - २२ जो अशाप्रकारे गुणांत वावरणारा ‘पुरुष’ व गुणांनी युक्त प्रकृति ( त्यांच्या मूळ वास्तविक स्वरूपात ) जाणतो ( अनुभव करतो ), तो सर्व प्रकारचे ( कार्य ) कर्माचरण करूनही पुनः जन्म प्राप्त करत नाही - २३.”

अक्षर शुद्धात्मा कर्म करत नसला तरी जीवात्मा कर्म करतो हे ध्यानात घेऊन श्रीकृष्ण अर्जुनाला आदेश देतात की ( त्या समयीच्या त्या न्याय्य युद्धासह ) कार्य कर्म निष्काम व निरहंकार वृत्तीने केली जावी ( ३-१९ ).

गीतेत प्रतिपादित वैयक्तिक आत्म्याचे हे द्विविध रूप वेदोपनिषदांच्या अनुसारच आहे. याविषयी मुण्डक ( ३-१, २, ३ ) व श्वेताश्वतर उपनिषदात हे श्लोक आहेत.

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते

तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्यो अभिजाकशीति ॥

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः

जुष्टं सदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः ॥

उक्त दोन्ही उपनिषदात आढळणाऱ्या या श्लोकांत ( संसाररूप ) एकाच वृक्षावर बसलेल्या दोन पक्ष्यांचा उल्लेख असून, त्यातील एक पक्षी वृक्षाची फळे आसक्तिपूर्वक खात असतो, तर दुसरा पक्षी त्या फळांना निर्विकारता ( अनासक्ति ) पूर्वक केवळ पहात राहतो. स्वाभाविकच प्रथम पक्षी सदा असंतुष्ट व शोकमोहग्रस्त असतो, परंतु जेव्हा तो त्या दुसऱ्या आत्मसंतुष्ट पक्ष्याची श्रेष्ठ वृत्ती जाणतो तेव्हा स्वतःही शोकरहित होतो. हीच कल्पना ऋग्वेद ( १-१६४-२० ) व अथर्व वेद ( १-१४-२० ) यात आहे.

‘शुद्धात्मा’चे हे वर्णन केल्यावर श्रीकृष्ण म्हणाले,

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्  
तथापि त्वं महाबाहो नैनं शोचिष्यमर्हसि ॥२-२६॥

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च  
तस्मादपरिहार्येऽर्थं न त्वं शोचिष्यमर्हसि ॥२७॥

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत

अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥२८॥

“ आणि जर हा आत्मा नित्य ( प्रत्येक वेळेस ) जन्मतो व नित्य मरतो असे तू मानत असशील, तरीही अर्जुना, तू याव्यासबंधात शोक करणे उचित नाही. - २६ कारण ( या धारणेप्रमाणे ) जो जो जन्मतो त्याचे मरण अटळ आहे, व जो मरतो त्याचा ( पुनर् ) जन्म अटळ आहे; तर मग जे अटळ आहे त्याविषयी तू शोक करणे उचित नाही. - २७ प्राण्यांचा उगम अव्यक्त असून केवळ मध्य ( जीवित ) अवस्थेत ते व्यक्त होतात, आणि मरणाने पुनः अव्यक्त होतात; असे असता त्यासंबंधात दुःख ( वेदना ) कशाला ? १-२८ ”

क्षेत्र व क्षेत्रज्ञ

तेराव्या अध्यायात भौतिक देह, ‘जीवात्मा’ व ‘शुद्धात्मा’ यांचा परस्पर संबंध दाखविला असून, त्यात देहाला ‘क्षेत्र’ व ‘शुद्धात्मा’ ला क्षेत्रज्ञ म्हटले आहे.

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते ।

एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥१३-१॥

“ अर्जुना, या शरीराला क्षेत्र म्हणतात व जो ( आत्मा ) त्याला जाणतो त्याला या शास्त्राचे विद्वान ‘क्षेत्रज्ञ’ म्हणतात. ” हा वैयक्तिक ‘क्षेत्रज्ञ’ मूलतः सर्वव्यापी परमेश्वराचा अंश आहे.

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत ।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ॥२॥

“ अर्जुना, सर्व शरीरात ‘क्षेत्रज्ञ’ मीच आहे असे जाण. क्षेत्र व क्षेत्रज्ञाचे ( त्यांच्या वास्तव स्वरूपाचे ) जे ज्ञान ते माझ्या अनुसार ( वास्तविक ) ज्ञान आहे. ” इतके म्हणून श्रीकृष्ण या विषयाचे विस्तृत विवेचन करतात.

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च यद्विकारि यतश्च यत् ।

स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु ॥३॥

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ।

इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥५॥



इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना घृतिः ।

एतक्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥६॥

“ते ‘क्षेत्र’ काय आहे, कसे आहे, कोणत्या विकारांनी ग्रस्त असते, आणि कोठून कसे निर्माण होते ? आणि तो ( ‘क्षेत्रज्ञ’ ) कोण आहे ? त्याचा काय प्रभाव आहे ? हे माझ्यापासून संक्षेपाने श्रवण कर. - ३ ( पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु व आकाश ही पाच ) महाभूते, अहंकार, बुद्धि व त्या सर्वांच्या मुळाशी असलेले ( अचेतन ) अव्यक्त ( प्रकृति तत्त्व ) देखील, ( पाच ज्ञानेन्द्रिये व पाच कर्मेन्द्रिये मिळून ) दहा इन्द्रिये, एक मन आणि पाच इन्द्रियद्वारा ग्राह्य ( शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध हे ) पाच विषय, - ५ आणि इच्छा ( वैयक्तिक आसक्ति ), द्वेष, सुख, दुःख, संघात ( इन्द्रियांचा प्रभाव ), चेतना ( वैयक्तिक जाणीव ), धृति असे हे विकारांसहित क्षेत्र संक्षेपाने सांगितले आहे - ६.” श्लोक ५ मध्ये ‘क्षेत्र’ व श्लोक ६ मध्ये त्यांचे विकार निर्दिष्ट आहेत, क्षेत्र या विकारांच्या द्वारे ‘क्षेत्रज्ञ’ ला ऐहिक जीवनात लिप्त करते.

यावत्संजायते किञ्चित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम् ।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ॥२६॥

“अर्जुना, जो कोणताही जीव अचल ( वृक्ष, लता आदि ) अथवा चल उत्पन्न होतो, तो क्षेत्र व क्षेत्रज्ञ यांच्या संयोगाने झालेला जाण.

वैयक्तिक ‘जीवात्मा’ स्वरूपात ‘क्षेत्रज्ञ’ आत्मा प्रकृतिच्या माध्यमाने कर्म करतो. परंतु मूल ( ‘शुद्धात्मा’ ) स्वरूपात तो अकर्ता असतो.

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।

यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति ॥२९॥

अनादित्वाविर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः ।

शरीरस्थोऽपि कान्तेय न करोति न लिप्यते ॥३१॥

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते ।

सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ॥३२॥

“सर्व कर्म ( प्रत्यक्षतः ) प्रकृतीच्या द्वारेच केली जातात, आणि ( शुद्ध ) आत्मा ( मूलतः ) अकर्ता आहे, हे ज्याने जाणले तो सत्य जाणतो - २९. अनादि व निर्गुण असल्याने हा अव्यय परमात्मा ( अंशरूपांने ) शरीरात निवास करत असताही, काही करत नाही, आणि ( शरीराच्या व्यवहाराने ) कोणत्याही प्रकारे लिप्त होत नाही. - ३१ ज्याप्रमाणे सर्वत्र व्याप्त होणारे आकाश अति सूक्ष्मतेमुळे ( त्याच्या अंतर्गत येणाऱ्या कोणत्याही पदार्थाने )

लिप्त होत नाही ( त्याला कोणत्याही वस्तूचा रंग, रस अथवा शीतोष्णादि गुण चिकटत नाही ), त्याचप्रकारे संपूर्ण शरीर व्याप्त करणारा ( शुद्ध ) आत्मा शरीराच्या कोणत्याही व्यवहाराने लिप्त होत नाही.” - ३२

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः ।

क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥३३॥

“अर्जुना, ज्याप्रमाणे एकटा सूर्य या साऱ्या जगाला प्रकाशित करतो, त्याप्रमाणे ‘क्षेत्री’ ( ‘क्षेत्रज्ञ’ ; ‘शुद्धात्मा’ ) सर्व शरीररूपी क्षेत्राला प्रकाशित ( चैतन्ययुक्त ) करतो.”





## प्रकरण - १०

### गीतेची उदार सामाजिक विचारधारा

चातुर्वर्ण्य व्यवस्थेचा आशय

शेकडो वर्षे हिंदू समाजाचे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र असे चातुर्वर्ण्यात्मक विभाजन होऊन, त्यात उच्चनीच भावनाही शिरली. विशेषतः शूद्र वर्णाला अति तुच्छ व तिरस्कृत मानण्यात आले; याने एकूण समाजाला फार विकृत स्वरूप प्राप्त झाले.

या विषयी गीतेचे काय प्रतिपादन आहे? गीता महाभारताचा एक महत्त्वाचा अंश आहे; आणि महाभारतात महर्षी भृगूंचे पुढील मार्मिक वचन आहे.

न विशेषोऽस्ति वर्णानां सर्वं ब्राह्ममिदं जगत्

ब्रह्मणा पूर्वसृष्टं हि कर्मभिर्वर्णतां गतम् ॥ शांतिपर्व, अध्याय १८८ ॥  
'वर्णात काही विशेष भेद नाही, सर्व जग ब्रह्मरूप आहे, ब्रह्माने निर्माण केलेल्या समाजात वेगवेगळ्या कर्मानुसार वर्णभेद प्रचलित झाला.' चातुर्वर्ण्यासंबंधी हे वचन सांगणारे महर्षी भृगु कोणी सामान्य ऋषि नव्हते. गीतेच्या दहाव्या अध्यायात आपल्या विभूती सांगताना श्रीकृष्ण म्हणतात, "महर्षीणाम् भृगुरहं" १०-२५.

चातुर्वर्ण्याविषयी असाच व्यापक विचार महाभारतात श्रेष्ठ ऋषी याज्ञवल्क्यांनीही व्यक्त केला आहे, "सर्वे वर्णा ब्राह्मणा ब्रह्मजाश्च" (शांतिपर्व अध्याय ३१८, 'ब्रह्मा पासूनच निर्माण झाले असल्याने सर्व वर्ण ब्राह्मण आहेत').

प्रत्येक व्यक्तीच्या स्वभावावर (व तदनुसार सामाजिक कर्मावर) त्याचा जन्म ज्या वर्णात झाला असेल त्याचा (व आनुवंशिकतेचा) कमी अधिक प्रभाव पडणे साहजिकच आहे. समाजाच्या सुचारु संचालनासाठी ते इष्टही आहे. समाजातील व्यक्तींनी, समाजहिताचे काही विशेष कारण

असल्याशिवाय, वर्णानुसार (आपल्या स्वभावानुसार) असलेले सामाजिक कर्म त्यागू नये. गीतेत श्रीकृष्ण म्हणतात, सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।

प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥३-३३ ॥

"ज्ञानवान देखील आपल्या स्वभावानुसार कर्म करतो, सर्व प्राणी प्रायः आपल्या स्वभावप्रकृतीचे अनुसरण करतात; त्याचा व्यर्थ निग्रह (दमन) करून काय भले होणार?" अर्जुन मोहवश होऊन असाच निग्रह करू पाहत होता, आणि श्रीकृष्णांनी त्याला त्यापासून परावृत्त केले (१८-५९, ६०). परंतु अर्जुन पापविषयक बौद्धिक चुकीच्या धारणेने तसे वागू पाहत होता. सामान्य मानव प्रायः स्वसुखदुःख विचाराने प्रभावित होऊन तसा निग्रह करू पाहतो. त्याचा निषेध करीत श्रीकृष्ण म्हणाले, इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।  
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥३४॥

"प्रत्येक इन्द्रियाची काही विषयात आसक्ति व काही विषयात अरूचि असते, त्या दोन्हीच्या प्रभावात घेऊ नये (आणि कर्तव्य त्याग करू नये), ते श्रेयाच्या मार्गात साधकाला लुबाडणारे आहेत."

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।

स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥३५॥

"आचरण्यास सुलभ व सुखद अन्य सामाजिक कर्मापेक्षा आपले सामाजिक कर्तव्य, त्यात काही दुःखकारक अथवा कमी प्रतिष्ठेचे असले तरी, करणे श्रेयस्कर आहे; आपले कर्तव्य करण्यात मरण आले तरी ते श्रेयस्कर असून, त्या ऐवजी अन्य कोणाच्या सामाजिक कर्माचे आचरण हानिकारक (अधोगतिकारक) होईल."

स्वे स्वे कर्मण्याभिमतः संसिद्धिं लभते नरः ।

स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ॥१८-४५ ॥

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥४६॥

'आपापले (स्वभावगुणानुसार) कर्म निष्ठापूर्वक करणारा मानव सिद्धि प्राप्त करून घेतो. स्वकर्तव्य करणारा कशा प्रकारे सिद्धी प्राप्त करतो ते ऐक - ४५. ज्याच्यापासून सर्व प्राण्यांची उत्पत्ति होते व ज्याने हे सर्व विश्व व्यापले आहे त्याचे (परमेश्वराचे) पूजन स्वकर्तव्यकर्माचरण रूपाने करून मनुष्य सिद्धि प्राप्त करून घेतो - ४६."

श्लोक ३-३५ ची प्रथम पंक्ती पुनः उच्चारून श्रीकृष्ण आपल्या



उपदेशाच्या समारोपात म्हणतात,

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।

स्वभावनिमित्तं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥१८-४७॥

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत् ।

सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥४८॥

“ आचरणास सुलभ व सुखद अशा अन्य कोणाच्या कर्तव्यापेक्षा आपल्या स्वभाव प्रकृतीस अनुसरून असणारे कर्तव्यकर्म, त्यात सुखदुःख दृष्टीने काही दोष असला तरी, श्रेयस्कर होय; स्वभावानुसार नियत कर्तव्यकर्म ( ते काहीसे सदोष असले तरी ) करणाऱ्याला पाप लागत नाही. - ४७ अर्जुना, आपल्या स्वभाव प्रकृतीस अनुसरून असलेल्या कर्तव्यकर्माचा त्यात काही दोष असला तरी, त्याग करू नये. कारण ज्याप्रमाणे धूराने सर्व अग्नि लिप्त असतो त्याप्रमाणे मानवाच्या प्रत्येक कर्मात काही ना काही दोष असतो - ४८. ”

परंतु अशाप्रकारे जन्मतः प्राप्त वर्णाच्या कर्तव्य कर्माचा त्याग प्रायः इष्ट नसला, तरी महाभारतानुसार वर्णाच्या सीमा पूर्ण अनुलंघ्य नसून, विशेष गुणाने संपन्न व्यक्ती प्राप्त परिस्थितीत अन्य वर्णाचे कर्म करू शकते हे ध्यानात घेणे महत्त्वाचे आहे.

लहानपणापासून कर्ण सूतपुत्र ( शूद्रवर्ण ) जाणला जात होता. एकवेळ या आधारवार त्याचा अपमान होण्याचा प्रसंग प्राप्त झाला असता, त्याचा मित्र दुर्योधन त्याला राजा करण्यास तयार झाला, तेव्हा कर्णाच्या शूद्र कुलाचा उल्लेख करून कोणी आक्षेप घेतल्यावर दुर्योधन म्हणाला, आचार्य त्रिविधा योनी राज्ञां शास्त्रविनिश्चये ।

सत्कुलीनश्च शूश्रयश्च सेनां प्रकर्षति ॥ ( आदिपर्व, अध्याय १३५ ) यात शास्त्राचा आधार देऊन म्हटले आहे की, उच्च ( क्षत्रिय ) कुलात जन्म घेणाऱ्याशिवाय, जो कोणी शूर असेल व सेनेचे आधिपत्य करू शकेल तो देखील राजा होऊ शकतो. यावर तेथे उपस्थित कोणीही आक्षेप घेतला नाही, आणि दुर्योधनाने कर्णाला अंग देशाचा राजा केले.

द्रोण जन्माने ब्राह्मण वर्णाचे असूनही त्यांनी क्षत्रियासमान युद्ध केले. कुरुक्षेत्रावर ते भीष्मानंतर कौरव सैन्याचे सर्वोच्च सेनापती झाले. त्यांचा पुत्र अश्वत्थामा व शालक कृपाचार्य हेही लढले.

या उलट श्रीकृष्णांनी कुरुक्षेत्र युद्धात क्षत्रियाप्रमाणे स्वतः न लढता, पांडवांच्या न्याय्य पक्षाचा जय व्हावा या उद्देशाने अर्जुनाच्या रथाचे सारथ्य ( शूद्र वर्णाचा काम ) केले.

शरशय्येवरून मरणासन्न भीष्मांनी युधिष्ठिरास गंभीर धर्मोपदेश

केला. त्यात युधिष्ठिराने विचारले की, राष्ट्राच्या संकटसमयी जर क्षत्रिय कर्तव्य धष्ट झाले व अन्य कोणी देशाचे रक्षण केले तर त्याला काय मानावे? भीष्मांनी निःसंदेह उत्तर दिले की, अशा समयी जो कोणी देशाचे रक्षण करील त्याला राजा मानावे. ( शांतिपर्व अध्याय ३८ )

महाभारतानुसार शूद्रांना ( श्रमिकांना ) पर्याप्त वेतन प्राप्त होत नसेल तर त्यांनी वैश्यवर्णीया प्रमाणे व्यापार आदि करावा.

वाणिज्यं पाशुपत्यं च तथा शिल्पोपजीवनम्

शूद्रस्यापि विधीयन्ते यदा वृत्तिर्न जायते ॥ ( शांतिपर्व अध्याय २९४ ) “ जर शूद्राची पारंपारिक कर्मांनी जीविका पर्याप्त चालत नसेल, तर शूद्र देखील व्यापार, पशुपालन, शिल्पकला आदिद्वारा आपले जीवन चालवू शकतो असा शास्त्राचा आदेश आहे. ” फार काय, भीष्म युधिष्ठिराला उपदेश करतात की, राजाने आपल्या अमात्य मंडळात अन्य वर्णांबरोबर शूद्रांनाही स्थान द्यावे. ( शांतिपर्व अध्याय ८५ )

महाभारताने प्रत्यक्ष सामाजिक व्यवहारातही उदार दृष्टिकोण दिग्दर्शित केला आहे. तरुण राजपुत्र पांडव वारणावत गावाला गेले तेव्हा तेथील ब्राह्मण, नागरिक शासक व व्यापारी यांच्या प्रमाणे शूद्रांच्याही घरी आस्थापूर्वक गेले ( आदिपर्व अध्याय १४५ ). आणि त्यानंतर इन्द्रप्रस्थ नगरी राजसूय यज्ञसमयी पांडवांनी अन्य वर्णांबरोबर शूद्रांनाही रीतसर आमंत्रित केले. राजा युधिष्ठिराने आपल्या दूतांना हा आदेश दिला,

आमन्त्रयश्च राष्ट्रेषु ब्राह्मणान् भूमिपानथ ।

विशश्च मान्यान् शूद्रांश्च सर्वानानयंतेति च ॥ ( सभापर्व अध्याय ३१ )

अशाच प्रकारे कुरुक्षेत्रावर महायुद्धात अन्य वर्णांबरोबर शूद्रांनीही भाग घेतला, आणि तो ‘ एकत्र राहून ’ ( एकस्थाः सर्ववर्णास्ते ” , भीष्मपर्व अध्याय १ ) त्यात शूद्र केवळ सेवक नसून स्वतः वीर योद्धे होते.

तेषामन्तकरं युद्धं देहपाप्मानुशासनम् ।

क्षत्रविदशूद्रवीराणां धर्म्यं स्वर्ग्यं यशस्करम् ॥ ( द्रोणपर्व अध्याय ४८ )

“ तदन्तरं त्या क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र वीरांनी ते घोर न्याय्य युद्ध केले, त्यात त्यांचे देह, प्राण व पाप नष्ट होऊन त्यांनी यश व स्वर्ग प्राप्त केला. ”

महाभारतात दिलेल्या एका कथेनुसार, जाजलि नावाच्या वृथाभिमानी तपस्व्याला वास्तविक ज्ञानासाठी तुलाधार नावाच्या एका सात्त्विक वैश्याकडे जावे लागले ( शांतिपर्व अध्याय २६१ ते २६४ ). तुलाधाराने केलेल्या उपदेशात गीतेतील अनेक विचार आले आहेत.

अशा प्रकारे महाभारतकारांनी जन्मजात चातुर्वर्ण्यात सामाजिक



समानता भावनेची प्रेरणा केली, परंतु दुर्भाग्याने समाजात त्याची उपेक्षा झाली.

गीता श्लोक ४-१३ : विपर्यास व वास्तविक अर्थ  
भारतीय समाजाच्या प्रारंभिक अवस्थेत सामाजिक कर्मांचे काही स्थूल विभाग सहजच होऊ लागले होते. श्रीकृष्णांनी त्यांच्या एका पूर्ववतारात सामाजिक कर्मांच्या त्या विभाजनाची एकूण समाजाच्या सुचारू संचालनासाठी आवश्यकता पाहून, वैयक्तिक स्वभाव गुणांच्या आधारावर वर्णविभाजनाला व्यवस्थित रूप दिले. श्रीकृष्ण म्हणतात,  
चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।  
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ॥४-१३॥

या श्लोकात श्रीकृष्ण म्हणतात की, त्यांनी कर्मांचे व गुणांचे ( वर्णवार ) विभाजन करून समाजात चातुर्वर्ण्याची स्थापना केली आहे. यात 'गुण' शब्दाचा सत्त्व-रज-तम त्रिगुण असा अर्थ करून याच्या प्रथम पंक्तीचे स्पष्टीकरण आद्य श्रीशंकराचार्य असे देतात ( गीता प्रेस, गोरखपूर द्वारा प्रकाशित संस्कृतचे हिंदी भाषांतर ) 'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र-इन चारो वर्णोंका नाम चातुर्वर्ण्य है। सत्त्व, रज, तम इन तीनों गुणों के विभागसे तथा कर्मोंके विभाग से यह चारो वर्ण मुझ ईश्वरद्वारा रचे हुए - उत्पन्न किये हुए है।' ब्राह्मण इस पुरुष का मुख हुआ 'इत्यादि श्रुतियों से यह प्रमाणित है। उनमें से सात्विक - सत्त्वगुणप्रधान ब्राह्मण के शम, दम, तप इत्यादी कर्म है। जिसमें सत्त्वगुण गौण है, उस क्षत्रिय के शूरीवृत्ता, तेज प्रभृति कर्म है। जिसमें तमोगुण गौण और रजोगुण प्रधान है, ऐसे वैश्य के कृषि आदि कर्म है। तथा जिसमें रजोगुण गौण तमोगुण प्रधान है उस शूद्र का केवल सेवाही कर्म है। इस प्रकार गुण और कर्म के विभागसे चारो वर्ण मेरे द्वारा उत्पन्न किये गये हैं, यह अभिप्राय है।'

श्री रामानुजाचार्य लिहितात, ( उपरोक्त हिंदी भाषांतर ), 'चातुर्वर्ण्य प्रधान यह ब्रह्मसे लेकर स्तम्बपर्यन्त समस्त जगत् सत्त्वादि गुणविभागसे और उनकेही अनुरूप शम आदि कर्म विभाग से भलीभांति विभक्त किया हुआ - मेरे द्वारा ही रचा गया है।'

गीता प्रेस द्वारा प्रकाशित 'श्रीमद्भगवद्गीता, तत्त्वविवेचनी हिंदी टीका सहित ( टीकाकार श्री जयदयाळ गोयन्दका ) मध्ये या श्लोकांच्या स्पष्टीकरणात म्हटले आहे, 'भगवान जब सृष्टिरचना के समय मनुष्यों का निर्माण करते हैं, तब उन-उन गुणों और कर्मोंके अनुसार उन्हें ब्राह्मणादि

वर्णों में उत्पन्न करते हैं। अर्थात् जिनमें सत्त्वगुण अधिक होता है, उसे ब्राह्मण बनाते हैं, जिनमें सत्त्वमिश्रित रजोगुण की अधिकता होती है उन्हें क्षत्रिय, जिनमें तमोमिश्रित रजोगुण अधिक होता है उन्हें वैश्य और जो रजोमिश्रित तमःप्रधान होते हैं, उन्हें शूद्र बनाते हैं। इस प्रकार रचे हुए वर्णों के लिए उनके स्वभावके अनुरूप पृथक्-पृथक् कर्मोंका विधान भी भगवानही कर देते हैं... ( १८-४१ से ४४ ) ।

प्रस्तुत श्लोकातील 'गुण' शब्दाची ही स्पष्टीकरणे विपर्यस्त व गीतेच्या ( आणि एकूण महाभारताच्या ) सामाजिक भूमिकेशी विसंगत आहेत. अयोध्येचा राजा रामचन्द्र क्षत्रिय होता म्हणून, या स्पष्टीकरणानुसार पूर्ण सात्विक नसून 'राजस प्रधान' होता काय ? संपूर्ण जीवनभर त्यांची निष्काम सेवा करणारा बंधू लक्ष्मण सात्विकतेत काही कमी होता ? कोणीही वैश्य सात्विक नसतो काय ? महाभारतात तुलाधार नामक सात्विक वैश्याने श्रेष्ठ ज्ञानोपदेश केला आहे ( शांतिपर्व अध्याय २६१ ते २६४ )

परंतु या स्पष्टीकरणात या शिवाय अन्य गंभीर दोष असा की, यात शूद्रवर्णांला तमोगुणी मानले आहे.

संत ज्ञानेश्वर श्लोक ४-१३ चा अर्थ देताना सत्त्व, रज, तमाचा स्पष्ट उल्लेख न करता, केवळ 'गुण' शब्द वापरून म्हणतात.

आतां याचिपरी जाण । चा-ही हे वर्ण ।

सृजिले स्यां गुण । कर्म विभागो ॥४-७७॥

जे प्रकृतीचेनि आधारे । गुणाचेनि व्यभिचारें ।

कर्म तदनुसारें । विवंचिलीं ॥७८॥

पण त्या कर्मांचे वर्णन करताना श्लोक १८-४१च्या स्पष्टीकरणांत ज्ञानेश्वर चातुर्वर्ण्याचा संबंध 'सत्त्वरजतम गुणांशी' निःसंदिग्ध प्रतिपादन करतात.

जिथे आत्मप्रकृतीचे इहीं । गुणीं सत्त्वादिकीं तिही ।

कर्म चौघां चढू ठाई । वांटिलीं वर्णां ॥१८-८२५॥

तैसी प्रकृतीच्या गुणीं । ज्या कर्माची वेल्हावणी ।

केली आहे वर्णीं । चढू इहीं ॥८२७॥

तेथ सत्त्व आपल्या आंगी । समीत निमीत भागी ।

दोघे केले नियोगी । ब्राह्मण क्षत्रिय ॥८२८॥

आणि रज परी सात्विक । तेथ ठेविले वैश्यलोक ।

रजचि तमसेवक । तेथ शूद्र ते गा ॥८२९॥

ज्ञानेश्वरांनी शंकराचार्यांच्या तपशिलात थोडा फरक करून ब्राह्मणांबरोबर क्षत्रियांनाही सात्विक व वैश्यांना रजमिश्रित सत्त्वगुणी म्हटले आहे. पण



शूद्रांना पूर्ण तमोगुणी मानले आहे.

श्री. दा. सातवळेकर ( पुरुषार्थबोधिनी श्रीमद्भगवद्गीता पृ. २०३-२०४ ) श्लोक ४-१३ च्या स्पष्टीकरणात म्हणतात, 'सत्त्व, रज आणि तम हे तीन गुण आहेत. सत्त्व-रज-तमाच्या न्यूनाधिक्यामुळे मनुष्यांचे चार प्रकार होतात आणि त्यांची कर्मेही यामुळे भिन्न होतात.

टिळकांनी 'श्रीमद्भगवद्गीता रहस्य' ग्रंथात श्लोक ४-१३ चा अर्थ देताना सत्त्व, रज, तमाचा उल्लेख केला नसून 'चातुर्वर्ण्याच्या गुणभेदाचे निरूपण पुढे अठराव्या अध्यायात ( १८-४१ ते ४९ ) केले आहे ते पहा. ' असे म्हटले आहे. परंतु अध्याय १८ श्लोक ४१ च्या पूर्वी ( श्लोक ४० वर ) दिलेल्या स्पष्टीकरणात श्लोक ४-१३ चा उल्लेख करून त्यात 'चातुर्वर्ण्याची गुणत्रय विभागाने उपपत्ती सांगितली आहे' असे म्हटले आहे. याने चातुर्वर्ण्यातील शूद्रवर्णाचा गुणत्रयातील तमोगुणाशी संबंध अन्य भाष्यकारांप्रमाणे स्पष्ट व्यक्त केला नसला तरी ध्वनित होतो.

श्लोक ४-१३ त चातुर्वर्ण्याचा सत्त्वरजतमाशी संबंध लावून शूद्रवर्णाला तमोगुणी ठरविणारी आणखी काही उद्धरणे. 'भगवद्गीता ( यथारूप )' लेखक श्रीमद् ए. सी. भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद ( मूळ हिंदी ), मराठी भाषांतर 'श्रीमद्भगवद्गीता ( जशी आहे तशी ) अनुवादक जनार्दन गंगाधर करंदीकर', श्लोक ४-१३ 'भाषांतर : प्रकृतीच्या त्रिगुणांना व चार वर्णांना असणाऱ्या नियत कर्मांना अनुसरून मी मानव समाजाचे चार वर्ण उत्पन्न केले आहेत... तात्पर्य : ब्राह्मण सत्त्वगुणांत स्थित आहेत... क्षत्रिय... रजोगुणांत स्थित आहेत... व्यापारधंदा करणाऱ्या मनुष्यांना वैश्य म्हणतात. त्यांच्यामध्ये रजोगुण व तमोगुण यांचे मिश्रण असते. आणि शूद्र किंवा मजूर वर्ग प्रकृतीच्या तमोगुणांत स्थित आहे...

अशाच दृष्टिकोनाने श्री नारायण गोविंद देसाई ( 'गीतातत्त्वविवेक' प्रकरण तिसरे ) या श्लोकाचे हे भाषांतर देतात. 'गुणाचा अर्थ, प्रकृतीतच अभिजात असलेले सत्त्व, रज व तम हे त्रिगुण... जीवांच्या उत्पत्तीबरोबरच त्यांची सत्त्वप्रधान, रजःप्रधान व तमःप्रधान अशी उपाधि निश्चित केली गेली... 'गुणकर्मविभागशः' याचा अर्थ-गुण म्हणजे सत्त्व, रज व तम या गुणांचे प्राधान्य... सत्त्वप्रधान कर्म करणारा तो उत्तम, रजोप्रधान आचरणारा तो मध्यम व तमःप्रधान कर्म करणारा तो अधम असे मानले असता अयोग्य ठरणार नाही...

श्लोक ४-१३ ची ही उद्धृत स्पष्टीकरणे गीतेच्या मूळ भूमिकेशी विसंगत आहेत. या श्लोकात 'गुण' चा अर्थ सत्त्वरजतम करून तो ब्राह्मणादि

चार वर्णांना क्रमवार लावत गेले, म्हणजे ओधानेच शेवटचा शूद्र वर्ण तमोगुणी ठरतो. पण शूद्रवर्णाचा तमोगुणाशी असा संबंध लावण्यास गीतेत काहीही आधार नाही. गीता अध्याय १४ ( गुणत्रय विभागयोग ), अध्याय १७ ( श्रद्धात्रयविभागयोग ) व अध्याय १८ ( मोक्षसंन्यास योग ) श्लोक १८ ते ४० ) यात सत्त्व-रज-तमाचे विस्तृत वर्णन आहे, त्यात ब्राह्मणादि चातुर्वर्ण्याचा काहीही उल्लेख नसून, तमोगुणाचा शूद्रवर्णाशी संबंध उल्लेखिला नाही. याउलट अध्याय १८/४४ मध्ये ब्राह्मणादि चातुर्वर्ण्याचे विवेचन असून, त्यात सत्त्व-रज-तमचा काहीही उल्लेख नसून शूद्रवर्णाला तमोगुणी म्हटले नाही. गीताकारांनी चातुर्वर्ण्य विभाजन व सत्त्वरजतमादि त्रिगुण यांना परस्परांपासून भिन्न ठेवले आहे; परंतु गीतेचे भाषांतरकार व भाष्यकार त्यात घोटाळा करत आले आहेत. सत्त्वरजतम हे सामुदायिक स्वरूपाचे गुण नसून, कोणत्याही वर्णाच्या प्रत्येक व्यक्तीचा ( अथवा कर्माचा ) नैतिकता विषयक दृष्टिकोन दर्शविणारे आहेत. यातील कोणताही गुण कोणत्याही वर्णाच्या व्यक्तीच्या आचरणात कमी अधिक प्रमाणात असू शकतो. ब्राह्मण वर्णात कोणी रजोगुणी व तमोगुणीदेखील, आणि शूद्र ( श्रमिक ) वर्णात कोणी रजोगुणी किंवा सत्त्वगुणीही असू शकतो.

श्लोक ४-१३ च्या वर उद्धृत स्पष्टीकरणात मुख्य चूक काय आहे ? त्यात 'गुण' चा अर्थ सत्त्वरजतम त्रिगुण असा केला जातो. पण गीतेने तेशे 'गुण' शब्द त्या अर्थाने वापरला नाही. मग त्या श्लोकात 'कर्म' बरोबर उल्लेखित 'गुण' कोणते ?

चातुर्वर्ण्यातील प्रत्येक वर्णाची सामाजिक कर्मे गीतेत अध्याय १८ श्लोक ४१ ते ४४ मध्ये सांगितली आहेत.

ब्राह्मण क्षत्रिय विशां शूद्राणांच परंतप ।

कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥१८-४१॥

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ।

ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥४२॥

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।

दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥४३॥

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् ।

परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥४४॥

प्रत्येक वर्णाच्या या कर्माच्या उचित आचरणार्थ आवश्यक शारीरिक, मानसिक व बौद्धिक स्वाभाविक क्षमता व पात्रता हे ते गुण होत. ब्राह्मण वर्णात विद्याध्ययनार्थ रुचि व अध्यापनाची पात्रता; क्षत्रियांत शस्त्रचालनाची



व न्यायपूर्ण शासनाची क्षमता; वैश्यात अनेकानेक वस्तूंचा नफानुकसानीसह हिशेब करून विक्रीदर निर्धारणाची आणि देशविदेशातून वस्तूंच्या आयात निर्याताची पात्रता, आणि शूद्र ( श्रमिक ) वर्णाच्या व्यक्तीत कठोर शारीरिक श्रमाची क्षमता हे स्वाभाविक गुण आवश्यक असतात यांना श्लोक १८-४१ मध्ये ' स्वभावप्रभवगुण ' म्हटले आहे.

सत्वरजतम हे तीनच असल्याने त्याचे विवेचन करताना त्यांचा नामोल्लेख करता आला. पण हे दुसरे ' स्वभावप्रभावगुण ' अनेकानेक सामाजिक कर्मांशी संबंधित असण्याने त्यांचा वेगवेगळा नामोल्लेख न करता, गीताकारांनी त्या गुणांचा ज्या कर्मांशी संबंध आहे त्या कर्मांचा उल्लेख केला आहे.

परंतु श्लोक ४-१३ च्या उपरोक्त भ्रामक स्पष्टीकरणाच्या आधारे शूद्र ( श्रमिक ) वर्णाला विशेष तमोगुणी मानले गेले. त्यांना विद्यालयात, मंदिरात प्रवेश नाकारला, शासकीय कार्यालयात व सैन्यात स्थान दिले नाही. गीता व महाभारताचा चातुर्वर्ण्यविषयक उदार दृष्टिकोन मी ' ज्ञानेश्वरी विरूद्ध गीता ' ' महाभारताची गूढ रहस्ये ' या माझ्या पुस्तकांत स्पष्ट केलां आहे. विद्यासंपन्न ब्राह्मणवर्ग, सत्ताधीश शासक क्षत्रिय व धनाधीश व्यापारी वर्ग यांना सामाजिक कार्यक्रमात श्रमिक ( शूद्र ) वर्गापेक्षा काही वरिष्ठ प्रतिष्ठा साहजिक दिली जात असेल, पण महाभारतात व गीतेत शूद्रांना अपमानपूर्वक विशेष तमोगुणी म्हटले नाही. गीतेत श्रीकृष्ण आपल्या भक्तात शूद्रांना अन्य वर्णांबरोबर स्थान देतात. ( १-३२, ३३ )

परंतु, दुर्भाग्याने मध्ययुगात गीतेच्या वास्तविक उदार सामाजिक भूमिकेची उपेक्षा करून, श्लोक ४-१३ च्या चूक स्पष्टीकरणानुसार श्रमिक ( शूद्र ) वर्णाला सामुदायिक रीत्या तमोगुणी मानून तिरस्कृत केले गेले. व विशाल हिंदू समाजाने आपल्याच एका विभागाला जवळजवळ अलग करून ठेवले. त्याने एकूण राष्ट्र कमजोर होऊन, अल्पसंख्य विदेशी आक्रमकांच्या प्रतिकारास अक्षम ठरले. त्यात धर्मांध मुसलमानांनी मंदिरांचा विध्वंस, जबरदस्तीने धर्मांतर, संपत्तीनाश व स्त्रीपुरुष बालकांची हत्या आदि केलेल्या भीषण अत्याचारांचा उल्लेख डॉ. भीमराव आंबेडकरांनी Thoughts on Pakistan ( p. 59 ) पुस्तकात केला आहे.

श्लोक ४-१३ च्या प्रथम पंक्तीचा वास्तविक अर्थ अशा स्वरूपाचा होईल. ' सामाजिक कर्मे आणि ती करण्यासाठी आवश्यक स्वाभाविक, शारीरिक, मानसिक व बौद्धिक गुण ( पात्रता ) यांची चार वर्णांत विभागणी करून मी चातुर्वर्ण्यव्यवस्था प्रस्थापित केली आहे. '

श्रमिक ( शूद्र ) वर्णाला तमोगुणी मानणारे या श्लोकाचे प्रचलित अनुवाद व स्पष्टीकरणे काढून टाकून, तेथे ' गुण 'चा वास्तविक आशय प्रतिपादन करणे फार इष्ट आहे. ते समग्र हिंदू राष्ट्रात एकत्व भावना प्रेरित करील. आज श्रमिक ( शूद्र ) वर्गाचा कोणी अभ्यासक श्लोक ४-१३ च्या वरील विपर्यस्त स्पष्टीकरणासह ( व त्या संदर्भात दिलेल्या श्लोक १८-४४ च्या अर्थासह ) गीता वाचेल, तर तो गीतेविषयी काय भावना करील ? गीतेला संपूर्ण हिंदू समाजात सादर स्थान असले पाहिजे.

येथे जाता जाता भारतीय चातुर्वर्ण्याची जगातल्या काही अन्य प्राचीन सामाजिक संस्कृतीशी तुलना उद्बोधक होईल.

प्राचीन ग्रीक दार्शनिक प्लेटोचे सामाजिक विचार अशा प्रकारचे होते.

" Plato begins by deciding that the citizens are to be divided into the three classes; the common people, the soldiers and the guardians. The last alone are to have political Power... they will usually succeed by heredity, but in exceptional cases a promising child many be promoted from one of the inferior classes, while among the children of guardians a child or young man who is unsatisfactory may be degraded... The definition of ' justice ' ...consists, we are told, in every body doing his own work, and not being a busy-body " ( *History of western Philosophy* by Bertrand Russell, pp 129-135 ).

भारतीय चातुर्वर्ण्यांतही विशेष परिस्थितीत वर्णांतर संभव होते. प्राचीन काळी चीन देशातही समाजाचे तीन स्थूल विभाग प्रचलित झाले. प्रथम विभाग ( ' Shen-shi=Scholar-gentry ' ) सर्वात श्रेष्ठ असून त्याच्या हाती ( सर्वभौम राजाच्या अधीन ) सर्व स्थानिक व प्रांतीय शासनांची सत्ता होती. द्वितीय विभागात सामान्य जनता ( commoners ) समाविष्ट होती. त्यात शेतकरी वर्ग ( ' Nung ' ) व भांडी बनवणारे, सोनार, लोहार, सुतार, विणकर आदि धंदेवाले ( Kung = artisans ) आणि व्यापारी वर्ग ( ' Shang ' ), याशिवाय सैनिकही ( ' Ping ' ) होते. वरिष्ठ प्रथम विभागात प्रवेश हेतु परीक्षा असे. त्यासाठी त्या वरिष्ठ विभागाच्या संततीशिवाय द्वितीय विभागालाही अनुमति होती. परंतु या दोन विभागांशिवाय एक तिसरा विभाग ( The mean people ) असून, त्याला



सर्वात कनिष्ठ मानले जात असे, त्यातील कोणालाही वरिष्ठ वर्गात प्रवेशाची पात्रता नव्हती. ( पाहा 'The Far East in the modern World,' by Michael and Tayler, New York, pages 20-33 )

\*\*\*

## प्रकरण - ११

### गीतेतील काही विशेष सूक्ष्म श्लोक (१)

श्लोक २-२९ : गीता अज्ञेयवादी (१) आहे काय ?

अक्षर पुरुष ( शुद्धात्मा ) विषयी गीता म्हणते,  
आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन-  
माश्चर्यवद्भवति तथैव चान्यः ।  
आश्चर्यवच्चैमन्यः शृणोति

श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥२-२९॥

“ क्वचित् कोणी विरळा ( पूर्ण ज्ञानी ) सिद्ध याला ( विशुद्ध आत्म्याला ) प्रत्यक्ष पाहतो ( अनुभवतो ), आणि तसाच ( ते प्रत्यक्ष अनुभवणारा ) अन्य कोणी विरळा सिद्ध पुरुष ( साधकांच्या मार्गदर्शनार्थ ) त्याचे ( या आत्म्याच्या स्वरूपाचे ) वाणीने वर्णन करतो ( पाहा गीता ४-३४ ), आणि असाच एखादा विरळा ते ( तन्मयतेने ) श्रवण करतो, परंतु केवळ श्रवणाने कोणालाही याचे प्रत्यक्ष ( अनुभूतिरूप ) ज्ञान होत नाही. ”

या श्लोकाचे काहीसे वेगळे अर्थही केले गेले आहेत. काही भाष्यकार यात ' आश्चर्यवत् ' शब्दाला ( सिद्ध पुरुष व साधकांचे विशेषण न मानता ) ' पश्यति ' ; ' वदति ' ; ' शृणोति ' या क्रियापदांचे विशेषण दाखवून एखादा विरळा याला ' आश्चर्यकारक स्वरूपात पाहतो, आश्चर्यकारक शब्दात वर्णन करतो, आश्चर्यकारक मानून श्रवण करतो ' असे आशय घेतात. परंतु हा श्लोक स्पष्टच कठोपनिषदाच्या पुढील श्लोकावर आधारित आहे.

(१) ( वैयक्तिक आत्म्याला अंतिम सत्याचा प्रत्यक्ष अनुभव असंभव मानणारी )



श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः

श्रुण्वन्तो ऽपि बहवो यं न विद्युः ।

आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धा-

ऽऽश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः ॥१-२-७॥

यात 'आश्चर्य' शब्द ज्ञानी सिद्ध पुरुषासाठी प्रयुक्त आहे आणि गीतेचाही हाच दृष्टिकोन पुढील श्लोकावरून स्पष्ट होतो.

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्व्यति सिद्धये ।

यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥७-३॥

“हजारो मानवात कोणी विरळाच (परम) सिद्धीसाठी प्रयास करतो, आणि (अशा) प्रयत्नशील सिद्ध व्यक्तीतही क्वचित कोणी माझे वास्तविक स्वरूप जाणतो.” श्लोक ७-१९ मध्येही अशा व्यक्तीला 'सुदुर्लभ' (फार विरळा) म्हटले आहे. सारांश उक्त श्लोक २-२९ मध्ये 'आश्चर्यवत्' शब्द जो पाहतो, वर्णन करतो, श्रवण करतो त्या सिद्ध पुरुषासाठी आहे.

शंकराचार्य, रामानुजाचार्य व टिळक यांच्या चतुर्थ चरणाचा ("वेद न चैव कश्चित्") संबंध 'श्रुत्वा' शिवाय प्रथम चरणाशीही लावून, 'या आत्मतत्त्वाला प्रत्यक्ष पाहून (अनुभव करून) देखील कोणी याला वास्तविक स्वरूपात जाणत नाहीत' असा अर्थ देतात. परंतु ही भूमिका 'अज्ञेयवाद' (Agnosticism) ची असून, उपनिषदांची व गीतेची नाही. उपनिषदांनुसार सर्वोच्च सत्य "यतो वाचो निवर्तते अप्राप्य मनसा सह" (वाणी व मनाने अगम्य) असूनही, तुर्यावस्थेत जाणले जाऊ शकते (कठ उपनिषद १-२-३, २-१-१, मुण्डक १-१-६, बृहदारण्यक २-४-५). गीतेनुसारही विरळा सिद्ध पुरुषाला शुद्धात्म स्वरूपाची अनुभूती संभव आहे, हे "बुद्धेः परं बुद्ध्या" (३-४३), "बहवो ज्ञानतपसा मद्भावमागताः" (४-१०) आदि वचनांवरून, व पुढील श्लोकांवरूनही स्पष्ट आहे.

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ।

तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥५-१६॥

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठान्स्त्वत्परायणाः ।

गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥१७॥

“परंतु ज्यांचे (आत्मस्वरूप विषयीचे) ते अज्ञान नष्ट झाले आहे (आणि ज्यांना शुद्धात्म्याची अनुभूती झाली आहे) त्यांचे ज्ञान (समग्र पृथ्वीला प्रकाशित करणाऱ्या) सूर्यासमान सर्वत्र परम ईश्वर तत्त्वाचे दर्शन करून देते. - १६ त्याला (परमेश्वराला) आपली बुद्धि, अंतःकरण व निष्ठा समर्पण करून जे त्याची उपासना करतात, त्यांचे चित्त ज्ञानद्वारा पूर्ण शुद्ध होऊन ते

पुनर्जन्मापासून मुक्त होतात - १७.” अशाचप्रकारे श्लोक ७-३ व ७-२९ च्या अनुसाराही विरळा सिद्धाला का होईना, पण ही प्रत्यक्ष अनुभूति संभव आहे. याप्रमाणे विचार करता श्लोक २-२९ च्या अंतिम चरणाचा अर्थ पूर्ण अज्ञेयवादी करणे उचित होणार नाही... वस्तुतः त्याचा मर्यादित आशय पुढील श्लोकाशी सुसंगत आहे.

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते

तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥४-३८॥

“या विश्वात (परम) ज्ञानासमान पवित्र अन्व काही नाही; योगसाधक ते यथासमय स्वतःत अनुभव करतो.”

## (२)

श्लोक २-४५ : नि स्रैगुण्य पण तरीही 'नित्यसत्त्वस्थ' गीतेक्त योगी त्रिगुणातीत असतो, परंतु श्रीकृष्ण अर्जुनास त्या बरोबरच हेही सांगतात की 'नित्यसत्त्वस्थ' हो - त्रैगुण्यविषया वेदा निर्रैगुण्यो भवार्जुन ।

निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो नियोगक्षेम आत्मवान् ॥२-४५॥

“अर्जुना, वेदांचे प्रतिपादन सत्त्वरजतम त्रिगुणात लिप्त आहे; तू त्रिगुणातीत, सुखदुःखादि द्वंद्वरहित, (रजतमविना) नित्य सत्त्वगुणात स्थित, स्वतःच्या योगक्षेमाची (सांसारिक जीवनाविषयी) चिंता न करणारा, आत्मनियंत्रित हो.” यात 'निर्रैगुण्य' अवस्थेला 'नित्यसत्त्वस्थ' असेही म्हटले आहे. त्रिगुणात सत्त्वगुणही येतो. मग या तीन गुणांच्या अतीत जाणारा 'नित्यसत्त्वस्थ' कसा असू शकेल ?

शंकराचार्य येथे 'निर्रैगुण्य'चा अर्थ (त्रिगुणातीतच्या ऐवजी) 'निष्काम' करतात, आणि मग अशा व्यक्तीला 'नित्यसत्त्वस्थ' म्हणण्यात काही अडचण नाही. पण श्लोक १४-२० मध्ये श्रीकृष्ण "एतान् त्रीन् गुणान् अतीत्य" जाण्याचा उपदेश करतात, अर्थात त्यात सत्त्वगुणाव्याही अतीत जाण्याचा आदेश आहे; आणि यावर अर्जुनही विचारतो (१४-२१) की या तीन गुणांच्या अतीत कसे जावे? म्हणून शेवटी 'निर्रैगुण्य' अवस्था 'नित्यसत्त्वस्थ' कशी याचे स्पष्टीकरण आवश्यक आहे.

वल्लभाचार्य अगदीच वेगळा आशय पाहतात. 'निर्रैगुण्यः' चा आशय त्रिगुणरहित परमेश्वर म्हणजे स्वतः श्रीकृष्ण असा घेऊन, 'निर्रैगुण्यो भवार्जुन'चा अर्थ ते 'अर्जुना माझ्याशी एकनिष्ठ हो' असा करतात व 'नित्यसत्त्वस्थ' मध्ये 'सत्त्व'चा अर्थ धैर्य करतात.



टिळक स्पर्शकरणा देतात, “ सत्त्वगुणाच्या अत्यंत उत्कर्षानेच अखेर त्रिगुणातीतावस्था प्राप्त होते असे मानून सांख्यशास्त्री सात्विक वर्गातले तिची गणना करीत असतात, आणि गीतेतही तीच पद्धत स्वीकारलेली आहे.” ( ‘गीतारहस्य’, पृष्ठ १६५ ) त्रिगुणातीत अवस्था सत्त्वगुणाचाच परम उत्कर्ष आहे, व ती ‘नित्यसत्त्वस्थ’ स्थिती आहे हे टिळकांचे म्हणणे उचित आहे, पण सत्त्वगुणात असताही त्या गुणाच्या अतीत जाण्याचा उपदेश कसा ?

साधक आपल्या मनात उठणाऱ्या रजतम विकारांना जेव्हा सत्त्वगुणाच्या आधारे प्रयत्नपूर्वक नियंत्रित करतो, तेव्हा त्याची वृत्ती ‘सामान्य सत्त्वगुणी’ असते.

रजस्तमश्नाभिभूय सत्त्वं भवति भारत ।

रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ॥१४-१०॥

“ अर्जुना, ( मनुष्याच्या मनात ) ( कधी ) रजतमाला दबवून सत्त्व प्रभावी होते, तर ( कधी ) सत्त्व व तमाला दबवून रज, आणि ( कधी ) सत्त्वरजाला दबवून तम ( प्रभावी होते ). ” येथे प्रथम पंक्तीत सांगितलेली स्थिती श्लोक १४-११ मध्ये अशी म्हटली आहे.

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते ।

ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥११॥

“ जेव्हा या देहात सर्वबाजूने ( मनात, बुद्धीत ) ज्ञानरूप प्रकाश उत्पन्न होतो, तेव्हा सत्त्वगुण प्रभावी आहे असे जाणावे. ” जो पावेतो योगावस्था प्राप्तीचा प्रयास करणारा साधक ( “ योगं आरुरुक्षुः ” ६-३ ) आपल्यातील रजतमाला नियंत्रित करत असतो तो पावेतो त्याला त्याच्या मनात आपल्या प्रभावी सत्त्वगुणाची जाणीव होत असते. पण जेव्हा तो ‘योगारूढ’ होतो, आणि त्याच्यातले रजतम पूर्ण शांत होऊन योगी अंतर्गत संघर्षरहित एकमेव सत्त्वगुणातच स्थित होतो, तेव्हा त्याच्या मनाला त्या सत्त्वगुणाची विशिष्ट जाणीव नसते. ही ‘त्रिगुणातीत’ ( निर्रैगुण्य ) अवस्था आहे. जेथे एकमेव सत्त्वगुणाचा प्रभाव असून, विरोधात रजतम प्रभावी राहिलेच नाहीत, तेथे त्या एकमेव प्रभावी सत्त्व अवस्थेला ‘सत्त्व’ असे विशेषरूपाने अनुभव करण्याची काय आवश्यकता ?

एक खुलासा. श्लोक २-४५ मध्ये ‘नित्यसत्त्वस्थ’ मनस्थितीत केवळ सत्त्वगुण असून शेष दोन ( रजतम ) नसतात असे मानून, या मनःस्थितीला ‘तीन’ गुण नसणारी निर्रैगुण्य स्थिती म्हणता येईल असा त्या श्लोकाचा भलताच आशय कोणी सुचविल्यास, त्याचे खंडन वरील

एकूण स्पर्शकरणात प्राप्त होईल. गीतेचा ‘निर्रैगुण्य’ शब्द केवळ गुणांचा अपाव दर्शविणारा नसून, त्या गुणांच्या उदासीकरणाचा निर्देशक आहे. ‘नित्यसत्त्वस्थ’ स्थितीतही रज व तम मनांत पूर्ण नष्ट होत नाहीत, शांत होऊन राहतात. या अवस्थेत योगी कोणत्याही विशेष प्रयासाविना सहजगत्याच सात्विक स्थितीत असतो, सत्त्वगुणाचे पालन करत असतो. ‘निर्रैगुण्य’ स्थितीच्या या स्पर्शकरणाचे पुढील श्लोकाचाही सुसंगत अर्थ प्राप्त होतो.

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः ।

सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ॥१८-४०॥

“ पृथ्वीवर, स्वर्गात, देवलोकातही प्रकृतीच्या या तीन गुणांनी मुक्त कोणीही नाही. ” गुणातीत अवस्थेत सत्त्वगुणाचाही पूर्ण अभाव मानला तर या श्लोकानुसार हे संभव होणार नाही; परंतु ती सत्त्वगुणाची ‘नित्य’ अवस्था असते हे ध्यानात घेतल्यावर ही विसंगती प्रतीत होणार नाही.

अशाच प्रकारे त्रिगुणातीत अवस्थेचे परमानंद ( विशुद्ध अक्षय ) सुख, ( ५-२१, ६-२१, ६-२७, १४-२७ ) वस्तुतः सात्विक सुख असते, पण मनात तशी विशिष्ट जाणीव राहत नसल्याने, त्याला सात्विकच्या अतीत म्हटले जाऊ शकते. श्रीकृष्ण सुखाचे तीन प्रकार सांगतात.

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ ।

अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति ॥१८-३६॥

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।

तत्सुखं सात्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥३७॥

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।

परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥३८॥

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः ।

निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥३९॥

“ अर्जुना, आता सुखाचे तीन प्रकार मजपासून श्रवण कर. जे सुख शुद्धात्म्याच्या अनुभूतिद्वारा प्राप्त प्रसन्नतेपासून उत्पन्न होते ( पाहा २-६५ ), ज्यात ( सुरवातीस रूचि न वाटली तरी ) साधक ( योगमार्गाच्या ) प्रयासाने रूचि घेऊ लागतो ( पाहा ६-२० ), ज्याच्या प्रभावाने त्याच्या दुःखाचा ( जन्ममरण चक्र रूप दुःख बीजाचा ) अंत होतो, ते आरंभी विषा समान ( अस्वीकार्य ) प्रतीत होते, परंतु परिणामी अमृतासमान ( हितकर ) होते, त्या सुखाला सात्विक म्हणतात - ३६, ३७. जे विषयाशी इन्द्रियांच्या संपर्काने उत्पन्न होऊन, सुरवातीस अमृतासमान ( आकर्षक ) प्रतीत होते,



परंतु परिणामी विषासमान ( अधोगतिकारक ) सिद्ध होते त्या सुखास राजस म्हटले आहे - ३८. जे सुख निद्रा, आळस, प्रमाद ( अनैतिक आचरण ) पासून उत्पन्न होऊन, आरंभी आणि अंतीही मनाला मोहात टाकते ( ज्याचे घातक स्वरूप व्यक्तीला शेवट पावेतो समजत नाही ) त्याला तामस म्हटले आहे - ३९. ”

सात्विक सुखात साधकांला आरंभी आकर्षण वाटत नाही आणि चित्त राजस व तामस सुखांपासून प्रयासपूर्वक हटवून सात्विक सुखाकडे वळवावे लागते. परंतु जेव्हा चित्त त्या सात्विक सुखात पूर्ण स्थिर होते तेव्हा ती एकचित्त त्रिगुणातीत अवस्था होते, आणि विरोधात राजस व तामस सुखाचे आकर्षण राहत नाही. अशाप्रकारे हा परमानंदही ( राजस तामस सुखाशी संघर्षरत ) सामान्य सात्विक सुखाच्या अतीत म्हणता येईल.

(३)

श्लोक ७-१४ व १६-३ : ‘दैवी’ शब्दाचे दोन अर्थ गीतेच्या अनुसार त्रिगुणात्मक प्रकृतिची आकर्षक ‘माया’, जी मानवाला मोहात पाडून कधी कधी तमोगुणाद्वारे दुष्कर्मासाठी प्रवृत्त करते, मूलतः परमेश्वराचीच निर्मिती ( योजना ) आहे. या दृष्टीने श्रीकृष्ण तिला ‘दैवी’ ( म्हणजे देवनिर्मित ) म्हणतात.

ये चैव सात्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये ।

मत्त एवेति ताव्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ॥७-१२॥

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैर्भिः सर्वमिदं जगत् ।

मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥१३॥

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।

मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥१४॥

“ ज्या सात्विक, राजसी व तामसी प्रवृत्ती आहेत त्या ( मूलतः ) माझ्यापासूनच ( माझ्या प्रकृतिरूपापासून ) झालेल्या जाण; त्या माझ्यात समाविष्ट ( माझ्या अधीन ) आहेत, परंतु मी त्यांच्यात नसतो ( मी त्यांच्या अतीत आहे ) - १२. या तीन गुणांच्या प्रवृत्तींनी मोहित होऊन हे सर्व जग त्यांच्या अतीत असणाऱ्या मज अक्षय परमात्माला जाणत नाही - १३. कारण, या माझ्या ‘दैवी’ ( त्रि ) गुणात्मक मायेला जिंकणे फार कठीण आहे; जे माझी भक्ति करतात तेच या मायेच्या पार जाऊ शकतात - १४. ”

काही धार्मिक पंथांच्या अनुसार दुष्ट प्रवृत्तीच्या शक्तीचे स्वतंत्र अस्तित्व असून, तिचा परमेश्वराशी संघर्ष होत राहतो; यात शेवटी ईश्वराचा

१७२ \* गीता तत्त्व दर्शन

जय होतो असे मानले तरी हे परमेश्वराच्या एकमेव संपूर्ण सर्वव्यापी अस्तित्वाला बाधित करते. गीता त्रिगुणात्मक प्रकृतिच्या मायेला परमेश्वराचीच ( दैवी ) निर्मिती मानते, परमेश्वराहून अन्य कोणी स्वतंत्र शक्ति नाही ( ७-७ ).

मानवाला मोहित ( करून दुष्कर्माकडे आकर्षित ) करणारी ही माया परमेश्वर का निर्माण करतो ? यासाठी की, मानवासमोर सन्मार्ग व कुमार्ग असे दोन्ही मार्ग असावे, व त्याने स्वेच्छापूर्वक कुमार्गाचे आकर्षण त्यागावे. दुराचरण संभव असूनही जो सदाचार करेल तोच खरा सदाचारी होय.

मानवाला दुष्कर्माकडे आकर्षित करणारी ही माया ‘ईश्वर निर्मित’ आहे या आशयाने हिला ‘दैवी’ म्हटले जाऊ शकते. परंतु गीताकाराने ‘दैवी’ शब्दाचा एका अन्य अर्थानेही प्रयोग केला आहे. ‘दैवी’ म्हणजे देवत्वाकडे नेणारी, साधु स्वभावाची ( सद्गुणी ), आणि याच्या उलट ‘आसुरी’ म्हणजे अधोगतिकारक असाही अर्थ होऊ शकतो. या दृष्टीने त्रिगुणात्मक मायेच्या केवळ सात्विक व राजस अंशाला ‘दैवी’ पण तमोगुणी अंशाला ‘आसुरी’ म्हणावे लागेल.

‘दैवी’ शब्दाचा या अर्थाने प्रयोग श्लोक ९-१३ मध्ये आला असून, अध्याय १६ मध्ये ते विस्ताराने सांगितले आहे.

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।

दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥१६-१॥

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।

दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं हीरचापलम् ॥२॥

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।

भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥३॥

“ निर्भयता, चित्तशुद्धि, ज्ञान व योगात स्थिरता, दानशीलता, इन्द्रियसंयम, यजनपूजन, नियमित अध्ययन, तप, सौम्यता - १, अहिंसा, सत्य, क्रोधाचा अभाव, अनासक्ति, शान्तवृत्ती, निंदा न करणे, प्राण्यांसाठी दयाभाव, निर्लोभता, मृदुता, ( दुष्कर्मासाठी ) लज्जा, ( सत्कर्मात ) दृढता - २, तेजस्विता, क्षमाशीलता, दृढ इच्छाशक्ति, स्वच्छता, निष्कपटता, अहंकार व आढ्यतेचा अभाव. अर्जुना, “ दैवी ” गुणसंपत्तीसह जन्म घेणाऱ्यात हे गुण असतात. ” - ३

याउलट, ‘आसुरी’ स्वभावाची अधोगतिकारक लक्षणे असतात.

गीता तत्त्व दर्शन \* १७३



दग्धो दर्पोऽतिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च ।

अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम् ॥४॥

दैवी संपद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता ।

मा शुचः संपदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव ॥५॥

“ अर्जुना, आसुरी गुणांसह जन्म घेणाऽन्यात दंभ, उद्वेगता, वृथाहंकार, क्रोध, क्रूरता, अज्ञान ही लक्षणे असतात. - ४ ( पूर्वकर्मनुसार व्यक्तीत या प्रवृत्ती आल्या असल्या तरी यांच्यावर नियंत्रण प्राप्त करण्याचा प्रयास तो करू शकतो, ४-३६, ६-५, ९-३० ). ” “ दैवी गुणसंपदा मुक्तिदायक व आसुरी बंधनकारक मानली गेली आहे; अर्जुना, तुझा जन्म दैवी गुणांसह झाला आहे. ( या युद्धासंबंधी पाप भयाने ) शोक ( व युद्ध कर्तव्याचा त्याग ) करू नको. - ५

अशा प्रकारे गीतेत ‘दैवी’ शब्द ‘देवनिर्मित’ व ‘देवस्वभावी ( साधुवृत्तीचे ) या दोन भिन्न अर्थानी आला आहे.

(४)

श्लोक ८-२७: मरणोत्तर दोन पंथ - देवयान व पितृयाण  
आठव्या अध्यायात श्रीकृष्ण मानवाच्या मरणोत्तर दोन परलोक-  
गतीविषयी प्राचीन धारणा सांगतात.

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्ति चैव योगिनः ।

प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥८-२३॥

अग्निज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् ।

तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥२४॥

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम् ।

तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते ॥२५॥

शुक्लकृष्णे गती ह्यते जगतः शाश्वते मते ।

एकया यात्यनावृत्तिमन्यथावर्तते पुनः ॥२६॥

“ अर्जुना, ज्या समयी ( इहलोकातून ) प्रयाण केले असता योगी ‘अनावृत्ति’ ( परत न येण्याची ) अवस्था प्राप्त करतात, आणि ‘आवृत्ति’ ( परत येण्याची ) अवस्था प्राप्त करतात, तो ( वेगवेगळा ) समय ( रूढ धारणेनुसार ) सांगतो. - २३ ( यज्ञाचा ) अग्नि स्पष्ट प्रज्वलित होण्याचा समय, ‘अहत्’ ( दिवसाचा समय ), शुक्लपक्ष व उत्तरायणाचे सहा महिने, अशा समयी ( इहलोका-पासून ) प्रयाण करणारे ज्ञानोपासक विद्वान् ब्रह्मलोकाला जातात. - २४ ( यज्ञाभि पूर्ण प्रज्वलित होण्यापूर्वी )

१७४ \* गीता तत्त्व दर्शन

धूर निघतो तो समय, रात्र, कृष्णपक्ष व दक्षिणायनाचे सहा महिने, अशा समयी ( इहलोकापासून ) प्रयत्न करणारा योगी चन्द्रज्योतीला पोचून परत येतो - २५. जगा ( इहलोका ) साठी ( मरणोत्तर ) या शुक्ल ( देवयान ) व कृष्ण ( पितृयाण ) दोन ( शुभ ) गति प्राचीन काळापासून मानल्या गेल्या आहेत; ( यातील ) एका ( शुक्ल गति ) ने जाणारा पुनर्जन्मरहित अवस्था प्राप्त करतो, तर दुसऱ्या ( कृष्णगति ) ने जाणारा पुनः ( इहलोकास ) परत येतो ( पुनर्जन्म घेतो ) - २६.

श्लोक २४ मध्ये ‘देवयान’ मार्गाचे व श्लोक २५ मध्ये ‘पितृयाण’ मार्गाचे वर्णन आहे. या श्लोकात ‘अहः’ ( दिवस ), ‘रात्रिः’, ‘शुक्लः’ ‘उत्तरायणम्’ आदि शब्द कालदर्शक आहेत. परंतु काही भाष्यकार त्यात ‘दिवस’, ‘रात्र’, ‘शुक्लपक्ष’ आदिचे स्वामी ( देवता ) जेथे निवास करतात ती स्थले, आणि उत्तरायणाच्या सहा महिन्यात सूर्य जेथे विशेषरूपाने असतो तो प्रदेश, असा स्थलसूचक आशय घेतात.

देवयान पितृयाण धारणा प्रथम प्रचलित झाल्या तेव्हा त्यांचा आशय स्थलसूचक होता हे खरे. देवयान मार्ग मृत जीवाला उत्तर दिशेने ब्रह्मलोकात व पितृयाण मार्ग दक्षिण दिशेने चन्द्रलोकात घेऊन जातो अशी धारणा होती. ऋग्वेदात यासंबंधी हे वचन आहे, “ द्वे सृती अश्रुणवं पितृणामहं देवानामुत मर्त्यानाम् । ताभ्यामिदं विश्वमेजत्समेति यदन्तरा पितरं मातरं च ” ( १०-८८-२५ ) ( ‘मानवांसाठी पितरांकडे व देवांकडे जाणाऱ्या दोन ( मरणोत्तर ) गती मी ऐकल्या आहेत, पिता ( आकाश ) व माता ( पृथ्वी ) यांच्यामधून विश्व या दोन मार्गांनी जाते ). बृहदारण्यक, छांदोग्य, प्रश्न, मुण्डक या उपनिषदात ऋग्वेदाच्या या मंत्राच्या आधारे त्या दोन मरणोत्तर मार्गांचा उल्लेख केला आहे.

उपनिषदांचा ‘पितृयाण’ मार्ग समाजात राहून यज्ञादि वैदिक कर्मे करणाऱ्यांसाठी, तर ‘देवयान’ मार्ग ज्ञानोपासना करणाऱ्यांसाठी आहे. श्रीकृष्णांनी श्लोक ३-३ मध्ये “ ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ” असे म्हटले आहे, त्याचा संबंध या दोन पंथांशी दिसतो.

वर प्रतिपादन केल्याप्रमाणे गीताकारांनी या दोन निष्ठांचा समन्वय करून ‘बुद्धियोग’ प्रतिपादन केला आहे; व तदनुसार ‘संन्यासी’, ‘ज्ञानी’, ‘योगी’ या शब्दांना नवीन अर्थ दिले. गीतापूर्व ‘संन्यासी’ कर्मविरोधी होता ( १४-३ प्रथम पंक्ती ); गीतेचा ‘संन्यासी’ निष्कामतापूर्वक आवश्यक कार्य कर्म करणारा आहे ( ६-१ ). गीतापूर्व योगी स्वर्गादि हेतू वैदिक क्रियाकर्म करणारा होता. ( २-४२, ४३, ४४ );

गीता तत्त्व दर्शन \* १७५



गीतेचा 'योगी' निष्काम वृत्तीने आवश्यक कार्य कर्म करणारा (३-१९, १-१) परंतु कर्माचा आग्रह धरत न राहणारा (३-१८), त्याविषयी 'सम' वृत्ति ठेवणारा (६-३) आहे. म्हणून गीतापूर्व सांख्यमार्गी व योगी भिन्न होते; परंतु गीतेत त्यांचा समन्वय आहे (५-४, ५), आणि श्लोक ६-२ मध्ये श्रीकृष्ण म्हणतात की संन्यास व योग वस्तुतः एकच आहेत.

परंतु गीताकारांनी 'योगी' शब्द काही श्लोकात रूढार्थाने प्रयुक्त केला आहे हे ध्यानात घेणे आवश्यक आहे; अन्यथा त्या श्लोकांचा वास्तविक आशय समजणार नाही. (वर उद्धृत) श्लोक ८-२३ मध्ये 'योगिनः' शब्द रूढ अर्थाचा आहे, व म्हणून त्या 'योगी'च्या इहलोकात 'आवृत्ति'चा उल्लेख आहे. गीतोक्त 'योगी' इहलोकात परत येत नाही.

श्लोक ८-२४ मध्ये श्रीकृष्ण 'योगिनः' शब्द सोडून 'ब्रह्मविदो जनाः' म्हणतात. हे ज्ञानमार्गी साधक आहेत. यात उल्लेखिलेले ब्रह्म 'परम ब्रह्म' नाही. बृहदारण्यक उपनिषदानुसार हे देवयानपंथी 'ब्रह्मलोकात' (प्रजापति ब्रह्मदेवाच्या निवासस्थानात) जातात.

श्लोक ८-२५ मध्ये उल्लेखिलेला 'योगी' गीतोक्त 'बुद्धियोगी' नसून रूढ अर्थाचा कर्ममार्गी योगी आहे. हे पितृयाणपंथी साधक पुनर्जन्म प्राप्त करतात असे श्लोक ८-२६ मध्ये म्हटले आहे.

येथपावतो देवयान व पितृयाण मार्गांविषयी रूढ धारणा सांगितल्यावर श्रीकृष्ण अर्जुनास आपला मौलिक उपदेश देतात.

नैते सुती पार्थ ज्ञानन्योगी मुह्यति कश्चन ।

तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ॥८-२७॥

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव

दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम् ।

अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा

योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ॥२८॥

“हे दोन्ही मार्ग जाणणारा कोणीही (बुद्धि-) योगी त्यांनी आकर्षित होत नाही, म्हणून अर्जुन, तू सर्वकाळ बुद्धियोगात स्थिर राहा - २७. हे (सर्वोच्च) ज्ञान प्राप्त करून (गीतोक्त बुद्धि-) योगी (शास्त्रात) वेदाध्ययनाचे, यज्ञांचे, तपाचरणाचे व दानकर्माचे जे पुण्यफल सांगितले आहे त्या सर्वांच्या अतीत जाऊन, परमश्रेष्ठ सर्वमूलक स्थान (अवस्था) (ब्रह्मात्मैक्य) प्राप्त करतो - २८.” या श्लोकात 'योगी' शब्द गीतोक्त आशयाने आला आहे. अनेकांनी श्लोक ८-२७ श्लोकाचा असा चुकीचा अर्थ केला आहे की, हा 'योगी' देवयान व पितृयाण हे दोन्ही मार्ग जाणून, त्यातील देवयान मार्ग स्वीकारतो.

उदाहरणार्थ रामानुजाचार्य लिहितात, “एतौ मार्गौ ज्ञानं योगी प्रयाणकाले कश्चन न मुह्यति, अपि तु स्वैनैव देवयानेन पया याति.” टिळकही या श्लोकात असाच देवयान स्वीकाराचा मार्ग पाहतात ('गीतारहस्य' पृ. ७३६).

परंतु श्रीकृष्णांचा असा आशय असता तर ते अर्जुनाला देवयानाच्या शुभ समयावर प्राण त्याग कर असे म्हणाले असते. या उलट ते या श्लोकात मरणासाठी कोणताही विशिष्ट कालखंड न सुचविता, अर्जुनाला 'सर्वेषु कालेषु' ईश्वर स्मरण करत ते युद्ध कर असा आदेश देत आहेत (८-७); आणि गीतोपदेश समाप्त करतानाही श्लोक १८-५६, ५७ मध्ये अर्जुनाला चित्त 'सततं' बुद्धियोगात ठेवण्याचा उपदेश आहे, यासाठी की केव्हाही मृत्यू आला तरी वास्तविक अमृतत्व गति प्राप्त होईल.

गीतेच्या अनुसार देवयानमार्गी पितृयाणाने प्रयाण करणाऱ्यांप्रमाणे वारंवार पुनर्जन्म प्राप्त करत नसले, तरी शेवटी त्यांनाही ब्रह्मलोकापासून परत यावे लागते. संपूर्ण अपुनरावृत्ती, पुनर्जन्मापासून संपूर्ण मुक्ति, गीतोक्त बुद्धियोगद्वारा प्राप्त होते.

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।

नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥८-१५॥

आब्रह्मभुवनल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।

मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥१६॥

“परम सिद्धि प्राप्त करणारे महात्मे मला पोचतात व दुःखसागररूप अशाश्वत पुनर्जन्म प्राप्त करीत नाहीत. - १५ अर्जुन, ब्रह्मभुवनासह सर्व (देव-) लोकांहून (केव्हा ना केव्हा) परत यावे लागते, परंतु अर्जुना मला पोचल्यावर पुनर्जन्म (कधीही) होत नाही - १६.” असेच श्लोक १५-६ मध्ये म्हटले आहे. पुढील श्लोकही पाहा.

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम् ।

यज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः ॥१४-१॥

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः ।

सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥२॥

“सर्व ज्ञानातले उत्तम ज्ञान मी तुला पुनः सांगतो. हें सर्वोत्तम ज्ञान संपादन करून सर्व मुनींनी परम सिद्धि प्राप्त करून घेतली आहे - १; या ज्ञानाच्या आश्रयाने सत्त्वरूपाशी एकरूप झालेले मृष्टीच्या उत्पत्तिकालीही पुनः जन्म पावत नाहीत आणि प्रलयकाली व्यथा (नाश) पावत नाहीत - २.



(५)

श्लोक १-४ व ५: “मत्स्थानि सर्वभूतानि” पण तरीही “न च मत्स्थानि भूतानि.”

अध्याय ९ मध्ये श्रीकृष्ण म्हणतात.

मया ततमिदं सर्वं जगद्व्यक्तमूर्तिना ।

मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥९-४॥

“माझ्या अव्यक्त स्वरूपाद्वारे मी हे सारे जग व्याप्त केले आहे, सर्व प्राणी माझ्यात स्थित आहेत, पण मी त्यांच्यात स्थित नाही.” यात अंतिम चरणाचा (‘न चाहं तेषु अवस्थितः’) चा आशय हा आहे की, ईश्वर केवळ एका अंशाने सर्व विश्व व्याप्त करतो. (असा अर्थ केल्याने या चरणाचा श्लोक १८-६१ शी विरोध प्रतीत होणार नाही). दहाव्या अध्यायात आपल्या प्रमुख विभूती सांगितल्यानंतर श्रीकृष्ण म्हणाले,

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन ।

विष्टभ्याहमिदं कृत्वमेकांशेन स्थितो जगत् ॥१०-४२॥

“अथवा, अर्जुना, (माझ्या विभूतीविस्ताराविषयी) हे सारे जाणून तुला काय करायचे आहे? (शोडक्यात इतेकेच जाण की,) मी हे संपूर्ण जग (माझ्या) केवळ एका अंशाने व्याप्त केलेले स्थित आहे.”

परंतु, श्लोक १-४ मध्ये “मत्स्थानि सर्वभूतानि” म्हटल्यावर श्रीकृष्ण लागलीच श्लोक १-५ मध्ये त्याच्या उलट म्हणतात,

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् ।

भूतभृन्न च भूतस्थो ममत्मा भूतभावनः ॥१-५॥

“प्राणी माझ्यात स्थित नाहीत, माझे सर्वश्रेष्ठ योगस्वरूप पाहा. प्राण्यांचा निर्माता व पालन कर्ता असूनही माझे (मूळ) आत्मस्वरूप प्राण्यात स्थित नाही.” पण मग काय आशयाने श्रीकृष्णांनी यापूर्वीच्याच श्लोकात “मत्स्थानि सर्वभूतानि” असे ही म्हटले? गीता हे एका उपमेने स्पष्ट करते -

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगोमहान् ।

तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥६॥

“ज्याप्रमाणे प्रचंड वायु (आपल्या इच्छेनुसार) सर्वत्र संचार करत असताही नेहमी आकाशाच्या सीमेतच राहतो, त्याप्रमाणे सर्व प्राणी (आपल्या इच्छेनुसार) कर्मे करीत असताही माझ्यात स्थित असतात. (माझ्याबाहेर जाऊ शकत नाहीत) असे समज.” हे श्लोक १८-६१ मध्येही सांगितले आहे. सर्व प्राणी (आपल्या इच्छेनुसार) संसारात सर्व दिशांनी भ्रमण करीत असताही ईश्वराच्या विश्वसंचालनाच्या सीमेतच राहतात. या अर्थाने ते ईश्वराचे

१७८ \* गीता तत्त्व दर्शन

ठावी स्थित असतात. मात्र ‘परम ज्ञानी भक्त’ योगी होऊन परमेश्वराच्या मूळ स्वरूपात ‘आस्थित’ होतो (६-३१, ७-१८, ९-२९); ती वेगळी अवस्था आहे.

(६)

श्लोक १-१९: श्रीकृष्ण ‘सत्’ आणि ‘असत्’ देखील. श्रीकृष्ण म्हणतात,

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्पृजामि च ।

अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ॥१-१९॥

“अर्जुना, मी (सूर्यरूपाने) उष्णता देतो, (समुद्राचे) पाणी (वाफरूपाने) खेचून घेतो व पावसाच्या रूपाने खाली सोडतो, मी अमृतत्व प्रदान करणारा व मृत्यू देणारा असून, सत् व असत् ही आहे.” (पाहा १०-३४, ११-३२). आणि अर्जुनही विश्वरूप श्रीकृष्णांना सत् व असत् या उभय प्रकारे संबोधित करतो-

कस्माच्च ते न मेरम्महात्मन्

गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे ।

अनन्त देवेश जगन्निवास

त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत् ॥११-३७॥

“हे महात्मन्, ब्रह्मदेवाचेही आदिनिर्माता व परमश्रेष्ठ अशा तुम्हाला ते (सिद्धसमुदाय) का नमस्कार करणार नाहीत? हे अनन्त, जगताधार, तुम्ही सत् आणि असत् आहा, तुम्ही जे परम अक्षर (ब्रह्म) आहे ते आहां.”

परंतु श्रीकृष्ण असेही म्हणतात,

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते ।

अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥१३-१२॥

“जे (अंतिम) जाणावयाचे, जे जाणल्याने (अनुभव केल्याने) अमृतत्व (मोक्ष) ची प्राप्ती होते ते मी सांगतो; त्या अनादि परम ‘ब्रह्म’ ला सत् म्हणत नाहीत व ‘असत्’ ही म्हणत नाहीत.”

या दुसऱ्या वचनाचे स्पष्टपणे ऋग्वेदाच्या या वचनाशी साम्य आहे, “न असत् आसीत् नो सत् आसीत् तदानीम्” (१०-१२०). परंतु याच्या विपरीत छंदोग्य उपनिषदात म्हटले आहे, “सत् एव सौम्य इदम् अग्रे आसीत् एकमेवाद्वितीयम्” (६-१). हे ध्यानात घेणे इष्ट आहे की, गीताकाराने ऋग्वेद वचनातील ‘न आसीत्’ च्या जागी ‘न उच्यते’ (‘असे म्हणत नाही’) शब्द वापरून तो विरोध दृष्टिआड केला आहे. परब्रह्म सर्वकाळ

गीता तत्त्व दर्शन \* १७९



सत् असते; पण 'असत्' स्वरूप सृष्टीच्या निर्मितीपूर्वी ते एकमेव अद्वितीय असल्याने, त्या स्थितीत त्याला 'सत्' संबोधित करण्याची काय आवश्यकता? जेव्हा 'असत्' (विनाशशील सृष्टी) अस्तित्वात असेल, तेव्हा तिच्याहून भिन्न परम चैतन्याला 'सत्' म्हटले जाऊन, ते त्या 'असत्' मध्येही असते. मूल अव्यक्त प्रकृति 'असत्' असली तरी परमेश्वराचेच रूप असल्याने, श्रीकृष्ण त्या 'असत्' मध्येही असतात असे श्लोक १-१९ मध्ये म्हटले आहे. परंतु जेव्हा 'असत्' निर्माण झाले नसेल तेव्हा ( 'असत्' पासून भिन्न दाखविण्यासाठी ) परब्रह्माला 'सत्' म्हणण्याची काय गरज? त्या समयी त्याला "न सत् न असत् उच्यते."

गीतेत 'दैवी' शब्दाप्रमाणे 'सत्-असत्' शब्दांचाही एका वेगळ्या अर्थाने प्रयोग आला आहे. त्या अर्थाने श्रीकृष्ण सदैव 'सत्' असून कधीही 'असत्' नसतात.

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते ।

प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते ॥१७-२६ ॥

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते ।

कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ॥२७॥

"अर्जुना, जेथे सत्यता व साधुवृत्ती असेल तेथे 'सत्' शब्द प्रद्युक्त केला जातो, व अशाच प्रकारे प्रशस्त (चांगल्या) कर्मासाठी 'सत्' शब्द वापरला जातो - २६. आणि यज्ञ, तप व दानात स्थिर निष्ठेला 'सत्' म्हणतात, व त्यांच्या पालनात केलेल्या कर्मांसाठी 'सत्' म्हटले जाते - २७." याच्या विपरीत -

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत् ।

असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥२८॥

"अर्जुना, श्रद्धेविना जे (यज्ञात) हवन केले जाते. (दान) दिले जाते, तप केले जाते, अथवा अन्य कर्म केले जाते त्याला 'असत्' म्हणतात, ते न या जीवनात व न मरणोपरान्त कल्याणकारक होते." या अनुसार जे चांगले ते 'सत्' व जे वाईट ते 'असत्.' या अर्थाने श्रीकृष्णात कधीही 'असत्' असणार नाही.

(७)

श्लोक १-३२ : पापयोनयः कोण ?

श्रीकृष्ण म्हणतात -

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।

१८० \* गीता तत्त्व दर्शन

स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥१-३२ ॥

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा ।

अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥३३॥

"अर्जुना, घोर पाप करणाऱ्यांना प्राप्त होणाऱ्या योन्यात जन्म घेणारे देखील, आणि स्त्रिया, वैश्य व शूद्र हे देखील, माझी भक्ति करून परम गति प्राप्त करून घेतात - ३२. मग माझी भक्ति करणारे सदाचारी ब्राह्मण व श्रेष्ठ राजे परम गति प्राप्त करतात हे सांगणेच नको; तू या अनित्य, असुखी, (मर्त्य) लोकास प्राप्त झाला आहेस तरी माझी भक्ति कर - ३३."

यात 'पापयोनयः' शब्दाचा "स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्राः" शी संबंध नाही. गीतेचा तसा आशय असता तर 'पापयोनयः' बरोबर "येऽपि स्युः" (जे कोणी असतील) या ऐवजी 'सन्ति' (जे आहेत) असे म्हटले असते. याशिवाय, स्वतः श्रीकृष्ण आपल्या विभूती वर्णनात स्त्री वर्गाचा पूर्ण सन्मान करतात.

मृत्युः सर्वहश्चाहमुद्धवश्च भविष्यताम् ।

कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मैधा धृतिः क्षमा ॥१०-३४ ॥

"मी सर्व संहारक मृत्यु व भविष्यात होणाऱ्यांचा उद्धव आहे; स्त्रियात मी कीर्ति, श्री, वाक्, स्मृति, मेधा, धृति व क्षमा यांच्या देवता आहे." "श्री" (लक्ष्मी) महर्षी भृगुची, व 'वाक्' (सरस्वती) ब्रह्माची कन्या असून शेष याच दक्षकन्या आहेत. आणि गीताकारांचा व्यापक सामाजिक दृष्टिकोन पाहता त्यांनी वैश्यांना व शूद्रांना 'पापयोनयः' म्हणून धिःकारले नसते.

महाभारताच्या आश्वमेधिक पर्वात (अनुगीता उपपर्व अध्याय १९) गीतेच्या उपरोक्त श्लोकासमान हा श्लोक आहे -

इमं धर्मं समास्थाय येऽपि स्युः पापयोनयः ।

स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्राः तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥

आणि त्याच पर्वात (अध्याय ३६) पापकर्मी ज्या योन्यात जन्म घेतात त्या सांगितल्या आहेत; त्यात स्त्रिया, वैश्य, शूद्र यांचा उल्लेख नसून, पशु, कीटक व बहिरे मुके आदींचा समावेश आहे. या संदर्भात पशुयोनीच्या उदाहरणासाठी काही भाष्यकार गजेन्द्रमोक्ष कथेचा उल्लेख करतात.

श्लोक १-३२ मध्ये वैश्य व शूद्रांबरोबर स्त्रियांचाही उल्लेख आहे यावरूनच स्पष्ट आहे की तेथे 'पाप योनयः' चा संबंध नाही. पूर्वजन्माच्या पापामुळे स्त्रीजन्म प्राप्त होतो अशी कल्पना महाभारतात कोठेही व्यक्त नाही. त्या श्लोकात "स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्राः" ला लागून 'अपि' शब्द आला आहे त्याचा आशय असा दिसतो. स्त्रियांची विशिष्ट देहरचना व कौटुंबिक

गीता तत्त्व दर्शन \* १८१



कर्तव्ये, आणि वैश्यशूद्रांच्या व्यापक सामाजिक कार्याचे स्वरूप पाहता, ( काही विरळे अपवाद सोडून ) त्यांना ब्राह्मण क्षत्रिय मोक्षसाधकांप्रमाणे यज्ञयाग, गहन तपक्रिया आदि ( १७-२४, १७-२५, १८-५ ) करणे प्रायः संभव होत नाही. म्हणून श्रीकृष्ण आश्वासन देतात की हे देखील आपली विशिष्ट कर्तव्ये करीत एकनिष्ठ ईश्वरभक्ति करून परम गति प्राप्त करू शकतील.

श्लोक १-३३ मध्ये ' ब्राह्मणाः ' लागून आलेल्या ' पुण्याः ' शब्दाचा आशय ( ' पापयोनयः ' च्या विपरीत ) पुण्ययोनयः असा नसून सात्त्विक, सदाचारी असा आहे, आणि त्याचा संबंध पूर्वजन्माशी नाही. ' राजर्षयः ' चाही तसाच आशय असून, ' भक्ताः ' हे दोघांचे विशेषण आहे.

( ८ )

श्लोक १०-३६ : " द्यूतं छलयतामस्मि "

आपला विभूति विस्तार सांगत असताना श्रीकृष्ण म्हणतात, द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ।

जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्वतामहम् ॥१०-३६ ॥

याच्या प्रथम चरणाचा, " द्यूतं छलयतामस्मि " चा, अर्थ अनेकांनी ' कपट करणाऱ्यात मी फाशांनी खेळण्याचे द्यूत आहे ' असा केला आहे. हे गीतेशी, महाभारताशी, व स्वतः श्रीकृष्ण चरित्राशी कितपत सुसंगत आहे?

शंकराचार्य लिहितात, " द्यूतम् अक्षदेवनादिलक्षणं छलयतां छलस्य कर्तृणाम् अस्मि " ( ' मी छलकपट करणाऱ्यांचे फाशांनी खेळण्याच्या स्वरूपाचे द्यूत आहे ' ). रामानुजाचार्य लिहितात, " छलं कुर्वतां छलास्पदेषु अक्षादि लक्षणम् द्यूतम् अस्मि. " आपल्या स्वार्थासाठी कोणाला ठगवून त्याचे वित्तहरण करण्याला छलकपट म्हणतात. श्रीकृष्णांना छलकपटयुक्त द्यूतद्वारा कोणाचे काहीही अपहरण करण्याचे काय कारण असू शकते होते ?

गीता प्रेस ( गोरखपूर ) द्वारा प्रकाशित ' तत्त्व विवेचनी टीका ' ( हिंदी ) मध्ये उक्त गीता वचनाचे " ' मैं छल करनेवालो मे जुआ हूँ " ' असे भाषांतर दिले आहे. हरे कृष्ण संप्रदायाचे भक्तिवेदांत स्वामी प्रभुपाद ( ' भगवद्गीता यथारूप ' , हिंदी ) या गीता वचनाचा ' मैं छलियो मे जुआ हूँ ' ( छल करणाऱ्यांत मी द्यूत आहे ) असा अर्थ देतात.

टिळक ( ' गीता रहस्य ' ) उक्त गीता वचनाचे हे भाषांतर देतात, " ' फसविणाऱ्यांचे द्यूत मी आहे. " सातवलेकर ( ' पुरुषार्थ बोधिनी टीका ' ) त्या वचनाचा असाच आशय व्यक्त करतात, आणि म्हणतात की, द्यूतात

छलभावनेची परमावधी असल्याने त्यात श्रीकृष्णांचे विभूतिमत्त्व आहे. या स्पष्टीकरणांनुसार श्रीकृष्णांनी स्वतःच आपल्याला सर्वाधिक कपटी व छल करणारा म्हटले आहे. योगी अरविंद ( ' The Gita, ' P. 170 ) उक्त वचनाचा हा अर्थ देतात, " I am the gambling of the cunning " . डॉ. राधाकृष्णन ( ' The Bhagavadgita ' ) भाषांतर देतात, " Of the deceitful I am the gambling " . वल्लभाचार्यांनी याचा असाच आशय पण थोडा फरक करून व्यक्त केला आहे. " छलयतां सम्बन्धि धर्मद्यूतं छलम् अहम् यथा युधिष्ठिरे भगवत्सेवोपयोगिक्रीडा साधनेषु अक्षलक्षणेष्ु द्यूतं वा भगवद्विभूतिः " वल्लभाचार्यांच्या अनुसार श्रीकृष्णांची विभूति रूप द्यूत शकुनीचे कपटद्यूत नसून युधिष्ठिराचे धर्मद्यूत आहे. पण याचा संबंध त्या वचनातील ' छलयतां ' शी कसा लावावयाचा ?

परंतु ही सर्व स्पष्टीकरणे बाजूस ठेवून येथे मूलभूत महत्त्वाचा प्रश्न असा की श्रीकृष्णांची एकूण द्यूताबद्दल काय धारणा होती ? त्यांना कोणत्याही स्वरूपात द्यूत मान्य होते काय ? याविषयी महाभारतात श्रीकृष्णांचे स्पष्ट वचन आहे. शकुनीशी द्यूतात हरून पांडव वनवासात गेल्यावर श्रीकृष्ण त्यांना सांत्वन देण्यासाठी येऊन भेटले. ( वनपर्व अध्याय १३ ते २२ ) . त्यावेळी ते म्हणाले की, हस्तिनापुरात ते द्यूत झाले तेव्हा ते द्वारकेच्या जवळ शाल्वाविरूद्ध लढण्यात गुंतले होते, म्हणून द्यूतप्रसंगी उपस्थित राहू शकले नाहीत, अन्यथा त्यांनी ते द्यूत होऊ दिले नसते.

श्रीकृष्ण म्हणाले, ( वनपर्व अध्याय १३ )

...स्त्रियोऽक्षा मृगया पातमेतत् कामसमुत्थितम्

दुःखं चतुष्टयं प्रोक्तं यैर्नरो भ्रश्यते श्रियः ॥७॥

तत्र सर्वत्र वक्तव्यं मन्यन्ते शास्त्रकोविदाः

विशेषतश्च वक्तव्यं द्यूते पश्यन्ति तद्विदः ॥८॥

एतच्चान्यच्च कौरव्य प्रसङ्गिकदुःकोदयम्

द्यूते ब्रूयां महाबाहो समासाद्याम्बिकासुतम् ॥१०॥

" स्त्रीआसक्ती, द्यूत, शिकार व मद्यपान ही मानवाला ऐश्वर्यहीन करणारी चार सकामनाज्य दुःख बीजे म्हटली गेली आहेत - ७. शास्त्रज्ञ, विद्वान यांना सदा निंद्य मानतात; परंतु त्यात द्यूत विशेषतः ( सर्वाधिक ) त्याज्य मानतात - ८. युधिष्ठिरा, द्यूतात हे व आणखीही दोष असून त्यापासून कटुप्रसंग उत्पन्न होतात; युधिष्ठिरा, ( द्यूतप्रसंगी मी उपस्थित असतो तर ) धृतराष्ट्राला भेटून मी हे सर्व त्याला सांगितले असते - १०. "

" द्यूतं छलयतामस्मि " वचनात श्रीकृष्णाचा वर उद्धृत द्यूतानुकूल



भाषांतरानुसार आशय असता, तर ते यावेळी पांडवांस म्हणाले असते की, मी द्यूतसमयी उपस्थित असतो तर शकुनीहून अधिक कपट करून तुम्हाला जिंकवून दिले असते. पण असे न म्हणता ते म्हणाले की मी द्यूत होऊ दिले नसते.

श्रीकृष्णाच्या त्या श्लोक १०-३६ मधील द्यूतविषयक वचनात वरील स्पष्टीकरणापेक्षा वेगळा सुसंगत अर्थ पाहणे आवश्यक आहे. 'द्यूत' शब्द 'दिव्' धातूपासून झाला आहे (आपटे कृत 'संस्कृत हिंदी कोश' पृ. ४७९, 'Sanskrit English Dictionary' by Vaidya, P. 332). संस्कृतात 'दिव्' धातूचे दोन अर्थ आहेत. 'फाशांनी द्यूत खेळणे' व 'त्रस्त होणे, त्रस्त करणे, पीडा देणे' (ओक कृत 'गीर्वाण लघुकोश' पृ. ५६१, आपटे पृ. ४५७, Vaidya P. 332). म्हणून 'द्यूत' चेही दोन भिन्न अर्थ होऊ शकतात - (१) फाशांनी खेळण्याचा जुगार (२) पीडा, त्रस्तता, दुःख. यासारखाच आणखी एक शब्द आहे देवतं (स्त्री देवता) आणि याचेही ते दोन अर्थ होतात. जुगार या अर्थाने तो शब्द महाभारतात वनपर्व १३-५ मध्ये आला आहे.

वीरसेनसुतो येस्तु राज्यान् प्रभ्रंशितः पुरा।

अतर्कित विनाशश्च देवनेन विशाम्पते ॥

आणि वनपर्वीत अन्यत्रही आला आहे. आणि त्याहून भिन्न आशयाने तो शब्द ('परि' उपसर्गासह) दुःख अथवा शोक या अर्थाने वनपर्व ७९-९ मध्ये व गीतेच्या या श्लोकातही आला आहे.

अव्यक्तदीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।

अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥२-२८॥

"अर्जुना, प्राण्यांचा उगम व अंत अगम्य असून केवळ मध्य (जीवित) अवस्थेत ते व्यक्त होतात. जन्मापूर्वी व मृत्यूनंतर ते कोठून येतात व कोठे जातात हे कळत नाही; पृथ्वीतलावर जिवंत स्थितीत वावरतात ते वढ्यापुरते व्यक्त असतात; मग (ज्या अव्यक्त अवस्थेतून ते येतात त्याच अवस्थेत ते मरणाने परत जात असल्याने) मरणाबद्दल दुःख (देवाना) कशाला?"

महाभारतात 'द्यूत' शब्द 'जुगार' या अर्थी अनेकवेळा आला आहे. पण असे दिसते की, महाभारकांणी तो शब्द गीतेतील "द्यूतं छलयतामस्मि" या श्रीकृष्ण वचनात दुःख अथवा पीडा या अर्थाने प्रयुक्त करून त्या वचनाला गूढ स्वरूप दिले आहे. 'दिव्' धातूपासून झालेला हा 'द्यूत' शब्द कधी कधी 'द्यून' असाही लिहिला जातो (पाहा आपटे पृ ४५७); ज्याचे क्रीडा व पीडा असे दोन्ही अर्थ होतात ('Sanskrit -

English Dictionary' by Monier Williams, P. 500).

महाभारतकारांनी उक्त श्रीकृष्णवचनात 'द्यूत' शब्द अशाचप्रकारे वापरला असून त्याचा अर्थ 'पीडा' आहे. तदनुसार त्या वचनाचे स्पष्टीकरण करण्यापूर्वी कूटसम्राट महाकवीने आणखीही काही शब्दांचे केलेले असे असाधारण प्रयोग पाहा.

विराट पर्व ४३-६ मध्ये 'षष्टि' शब्दाचा साठ या नेहमीच्या अर्था ऐवजी 'सहा अधिक अकरा, एकूण सत्रा' असा असाधारण अर्थ करून महाभारतकारांनी कसे गहन कूट केले आहे ते मी 'महाभारताची गूढ रहस्ये' पुस्तकात दाखविले आहे. शल्यपर्व १-१२ मध्ये 'अपराष्ट्र' शब्द 'अपराष्ट्र प्रहार' या सरळ अर्थाने न घेता, 'दुसऱ्या दिवशी' या भिन्न अर्थाने प्रयुक्त आहे हे मी उक्त पुस्तकात दाखविले आहे. आणि अशाच प्रकारे शांतिपर्व ५१-१४ मध्ये 'पंचाशतं' शब्दाचा प्रयोग 'पन्नास' या रूढ अर्थऐवजी 'पंच + अशत' असा विग्रह करून अगदी भिन्न आशय व्यक्त केला आहे, हे ही मी त्या पुस्तकात स्पष्ट केले आहे.

या साऱ्या संदर्भात "द्यूतं छलयताम् अस्मि" या वचनात 'द्यूतं' चा वर निर्दिष्ट विशिष्ट अर्थ ध्यानात घेतल्याने ते वचन पूर्ण सरळ, मार्मिक व सुसंगत प्रतीत होऊन त्याचा हा अर्थ होतो, "छलकपट करणाऱ्यांची पीडा मी आहे, त्यांना (आवश्यक) पीडा देणारा मी आहे." श्रीकृष्ण कोणत्याही प्रकारे द्यूतसमर्थक नसून द्यूतविरोधी आहेत, स्वतः छलकपट करणारे नसून छलकपट करणाऱ्यांना (कर्मसिद्धांतानुसार) शासन करणारे आहेत. अशाच प्रकारे ते म्हणतात, "दण्डो दमयताम् अस्मि" (१०-३८) 'दुराचाऱ्यांना दंड देणारी दंडशक्ति मी आहे.'

आता श्लोक १०-३६ चा संपूर्ण अर्थ हा उपलब्ध होतो, "छलकपट करणाऱ्यांना (आवश्यक) पीडा देणारा मी आहे, तेजस्वी व्यक्तींचे तेज मी आहे, सदाचारी व्यक्तीची सात्विकता, सुयश व त्यांची निर्णयकारी बुद्धि मी आहे."

(९)

अर्जुनाने गीतोपदेशात श्रीकृष्णांची किती रूपे पाहिली? अर्जुनाने श्रीकृष्णांना नेहमी द्विभुज मनुष्यरूपात पाहिले होते, आणि याच रूपात ते यावेळी अर्जुनाच्या रथात सारथी होते. दहाव्या अध्यायात श्रीकृष्णांनी आपला विशाल विभूति विस्तार सांगितल्यावर अर्जुनाने त्यांचे ते विराटरूप प्रत्यक्ष पाहण्याच्या इच्छेने श्रीकृष्णांना म्हटले,



भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरणो मया ।

त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम् ॥११-२॥

एवमेतद्यथाश्च त्वमात्मानं परमेश्वर ।

द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ॥३॥

“कमलनयन श्रीकृष्णा, ( सर्व ) प्राण्यांची तुमच्यापासून उत्पत्ती व ( कल्पाच्या अंती तुमच्यात ) लय, आणि तुमची परम महानता ( योग सामर्थ्य ) याचे तुम्ही केलेले वर्णन मी विस्ताराने ऐकले - २. हे पुरुषोत्तम परमेश्वरा, तुम्ही हे जे स्वतःचे वर्णन केले तदनुसार ती तुमच्या ‘ऐश्वर्य’ रूपाचे प्रत्यक्ष दर्शन करू पाहतो - ३. ” श्रीकृष्णांनी अर्जुनाला त्यांचे विश्वरूप पाहण्यासाठी दिव्यदृष्टि दिली ( ११-८ ). अर्जुनाने श्रीकृष्णाच्या प्रचंड ‘अनंत विश्वरूपाचे दर्शन केले ( ११-९ ). त्यावेळी अर्जुनाने श्रीकृष्णाचे पाहिलेले हे दुसरे रूप होते ( प्रथम रूप नेहमीचे मनुष्यरूप होते ). त्या विश्वरूपाचे काहीसे वर्णन स्वतः संजयाने धृतराष्ट्रास कथन केले ( ११-१० ते १४ ). पण त्याशिवाय स्वतः अर्जुनाने ते विराट विश्वरूप पाहिल्यावर त्याची अत्यंत नम्रतेने व भक्तिभावाने प्रार्थना केली ( ११-१५ ते ३१ ).

अर्जुन म्हणाला,

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं

पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम् ।

नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं

पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप ॥११-१६॥

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च

तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम् ।

पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ता-

दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् ॥१७॥

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं

त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।

त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता

सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥१८॥

“अनेक बाहू, उदर, मुखे व नेत्रांनी युक्त आणि सर्व बाजूंनी अनंत अशा रूपात मी तुम्हाला पाहत आहे. हे विश्वेश्वरा, मला तुमचा न आदि, न मध्य, न अंत दिसत आहे - १६. मी तुम्हाला मुकुट ( किरीट ) धारी, गदाधारी, ( सुदर्शन ) चक्रधारी, आणि सर्व बाजूंनी प्रकाशमय, तेजोमय, प्रज्वलित अग्नि व सूर्यासमान सर्वत्र प्रकाशयुक्त, असीम ( अनन्त ), आणि ज्याच्याकडे

१८६ \* गीता तत्त्व दर्शन

दृष्टिक्षेप करणेही अति कठीण आहे, अशा स्वरूपात पाहत आहे - १७. तुम्ही परम अक्षर व ( अंतिम ) ज्ञेय आहां, तुम्ही या विश्वाचे मूलाधार आहां, तुम्ही शाश्वत नीतिधर्माचे संरक्षक आहां, सनातन ( अनादि ) आहां, अशी माझी धारणा आहे. ” - १८ ( ‘शाश्वतधर्मगोप्ता’ पाहा १४-२७ )

या विश्वरूपात किरीट ( मुकुट ), गरूड व ( सुदर्शन ) चक्र पाहून हे विष्णू आहेत अशी अर्जुनाची धारणा झाली; त्याने त्या विश्वरूपी परमेश्वराला ‘विष्णू’ असे स्पष्ट संबोधित करून म्हटले,

नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं

व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम् ।

दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा

धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो ॥११-२४॥

लेलिह्यासे ग्रसमानः समन्ता-

ल्लोकान्समग्रान्दन्दनैर्ज्वलद्भिः ।

तेजोभिरापर्यं जगत्समग्रं

भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ॥३०॥

आख्याहि मे को भवानुग्रूपो

नमोऽस्तु ते देववरं प्रसीद ।

विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं

न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ॥३१॥

“हे विष्णो, आकाशापावेतो पोचलेल्या, देदीप्यमान, विविध रंगांनी युक्त, मुखे उघडलेले, आणि विशाल नेत्र असलेल्या तुम्हाला पाहून माझे अंतःकरण भयभीत होत आहे, व धैर्य गमावून माझ्या मनाची शांती नष्ट झाली आहे - २४. सर्व बाजूच्या ( या ) समग्र लोकांना आपल्या ज्वलंत मुखांनी ग्रास करीत तुम्ही जिभा चाटत आहां; हे विष्णो, तुमची उग्र प्रभा संपूर्ण जगाला तेजाने व्याप्त करून अति तप्त करीत आहे - ३०. हे उग्ररूपधारी, तुम्ही कोण आहां हे मला सांगा, हे देवाधिदेव, मी तुम्हाला नमन करतो, प्रसन्न व्हा, हे सृष्टीच्या परम आदि, मी आपल्यास जाणू चाहतो, कारण ( येथे या प्रकारे प्रकट होण्यांत ) आपले प्रयोजन मला समजत नाही - ३१.”

यावर त्या विश्वरूपाने उत्तर दिले,

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो

लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः ।

ऋतेऽपि त्वा न भविष्यन्ति सर्वे

गीता तत्त्व दर्शन \* १८७



येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ॥११-३२॥

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व

जित्वा शत्रून् भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम् ।

मयैवैते निहताः पूर्वमेव

निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥३३॥

‘द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च

कर्णं तथान्यान्पि योधवीरान् ।

मया हतास्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा

युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान् ॥३४॥

“मी लोकक्षय करणारा वृद्धिगत ‘काल’ असून येथे ( दुष्ट ) लोकांचा संहार करण्यास प्रवृत्त झालो आहे, शत्रुसैन्यात उभे हे सारे योद्धे तुझ्याविनाही ( तू यांच्याशी हे युद्ध केले तरी ) जिवंत राहणार नाहीत - ३२. म्हणून तू ऊठ, उभा रहा, ( हे युद्ध करून ) यश प्राप्त कर, शत्रूंना जिंकून समृद्ध राज्याचा उपभोग घे, माझ्या द्वारे ( परमेश्वराद्वारे ) हे या आधीच मारले गेले आहेत ( मृत्युदंडास पात्र ठरवले गेले आहेत ), ( म्हणून ) अर्जुना, ( आता या युद्धात यांचा प्रत्यक्ष वध करण्यात ) तू केवळ एक निमित्त ( साधन ) हो - ३३. द्रोण, भीष्म, जयद्रथ, कर्ण व तसेच ( दुर्योधनाच्या पक्षाचे ) अन्यही योद्धे माझ्याद्वारा ( आधीच ) मारले गेले आहेत. ( मृत्यू-दंडास पात्र ठरवले गेले आहेत ), ( आता ) तू यांचा ( या युद्धात प्रत्यक्ष वध कर, त्याने तुला पाप लागेल अशी ) चिंता करू नको, हे युद्ध कर, तू रणात शत्रूंना जिंकशील - ३४.”

यावर अर्जुनाने त्या विराटस्वरूपी विष्णूची प्रार्थना करून ( ११-३५ ते ४४ ) म्हटले की तुम्ही आपले चतुर्भुज देवरूप दाखवा.

अदृष्टपूर्व हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा

भयेन च प्रव्यथितं मनो मे ।

तदेव मे दर्शय देवरूपं

प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥११-४५॥

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्त-

मिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव ।

तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन

सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते ॥४६॥

“पूर्वी कधीही न पाहिलेले ( तुमचे हे विश्वरूप ) पाहून मला हर्ष होतो, परंतु ( तुमचे तेज सहन न होऊन ) माझे मन भयाने व्याकुल होत आहे, ( म्हणून )

१८८ \* गीता तत्त्व दर्शन

हे देवांच्या ईश्वरा, जगदाधारा, प्रसन्न व्हा आणि ( हे भीषणरूप त्यागून ) तुमचे ‘देवरूप’ ( चतुर्भुज विष्णुरूप ) प्रकट करा - ४५. मी तुमच्या त्या किरीट, गदा व हातात चक्रासहित ( देव ) रूपाचे दर्शन करू पाहतो, हे सहस्रहस्तधारी विश्वरूप परमात्मा, त्याच चारभुजायुक्त ( देव ) रूपांत कृपा करून दर्शन द्या. ” - ४६

तदनुसार श्रीकृष्णांनी आपले विश्वरूप त्यागून अर्जुनाला सौम्य चतुर्भुज देवरूपात दर्शन दिले ( ११-५० ). हे अर्जुनाने त्याप्रसंगी पाहिलेले श्रीकृष्णाचे तिसरे रूप होते. आणि यानंतर त्यांनी पुनः आपले नेहमीचे द्विभुज मानवरूप धारण केले.

इत्यर्जुनं वामुदेवस्तथोक्त्वा

स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः ।

आश्वासयामास च भीतमेनं

भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा ॥११-५०॥

ते नेहमीचे सौम्य मनुष्यरूप पाहून अर्जुन म्हणाला,

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन ।

इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः ॥५१॥

“श्रीकृष्णा, हे तुमचे सौम्य मनुष्यरूप पाहून माझे मन आता स्थिर व सामान्य स्थितीत येऊन, मी नेहमीच्या स्वाभाविक अवस्थेला प्राप्त झालो आहे. ”

काही भाषांतरकार श्लोक ४५ मध्ये ‘देवरूप’ शब्द ‘देव रूप’ असा विभाजित करून आशय पाहतात की, श्रीकृष्ण विश्वरूपातून एकदम मनुष्यरूपात आले. परंतु अर्जुनाने ‘सहस्रबाहु’ ऐवजी ‘चतुर्भुज’ रूप पाहण्याची इच्छा श्लोक ४६ मध्ये व्यक्त केली असून, ते चतुर्भुज रूप श्रीकृष्णाचे अर्जुनाचा सखा व सारथी दृष्टीने नेहमीचे रूप नव्हते.

( १० )

स्वतः संजयाने ते विश्वरूप प्रत्यक्ष पाहिले काय ?

अर्जुनाला विश्वरूप दाखवल्यावर श्रीकृष्ण म्हणाले,

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैर्न

च क्रियाभिर्न तपोभिरुच्यैः ।

एवंरूपः शक्य अहं नृलोके

द्रष्टुं त्वदन्येन कुरूप्रवीर ॥११-४८॥

“अर्जुना, मला वेदपठनांनी, यज्ञांनी, दानांनी, विद्याध्ययनांनी, ( योगिक ) क्रियांनी अथवा उग्र तपाचरणांनीही मनुष्य लोकी या रूपात तुझ्याशिवाय

गीता तत्त्व दर्शन \* १८९



अन्य कोणी पाहणे संभव नाही. ” परंतु स्वतः संजय गीतोपदेश कथनाच्या समाप्तीत धृतराष्ट्रास म्हणतो,

राजसंस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम् ।

“ केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ॥१८-७६ ॥

“ राजन् ( धृतराष्ट्र ), कृष्णार्जुनांच्या या कल्याणकारक अद्भुत संवादाचे वारंवार स्मरण होऊन मला पुनः पुनः हर्ष होत आहे. ” आणि याशिवाय संजय आणखी म्हणाला,

तश्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपत्यद्भुतं हरेः ।

विस्मयो मे महानाजन्ह्यामि च पुनः पुनः ॥७७॥

“ महाराज ( धृतराष्ट्र ) श्रीकृष्णांच्या त्या अद्भुत ( ऐश्वर्य ) रूपाचे पुनः पुनः स्मरण होऊन मला महान आश्चर्यासह वारंवार हर्ष होत आहे. ” यावरून असे दिसते की संजयाने केवळ तो संवाद श्रवण केला इतकेच नव्हे तर ते अनंत विश्वरूपही पाहिले.

याची पुष्टी यानेही होते की, श्रीकृष्णांनी अर्जुनाला आपले परम ऐश्वर्य रूप दाखविले असे संजयाने श्लोक ११-९ मध्ये म्हटल्यानंतर, त्या स्वरूपाची अर्जुनाने केलेली प्रार्थना सांगण्यापूर्वी संजय त्या विश्वरूपाबद्दल स्वतःच्या शब्दात म्हणाला,

अनेकवक्त्र नयनमनेकाद्भुत दर्शनम् ।

अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्घातायुधम् ॥११-१० ॥

दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम् ।

सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम् ॥११॥

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता ।

यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः ॥१२॥

“ ते रूप अनेक तोंडांनी व नेत्रांनी युक्त, अनेक अद्भुत दृश्य प्रदर्शित करणारे, अनेक दिव्य आभूषण धारण करणारे व अनेक दिव्य शस्त्र उचलून ठेवणारे - १०, दिव्य वस्त्र परिधान करणारे, दिव्य गंधलेपाने युक्त, अनंत, विश्वव्यापी, अत्यंत आश्चर्यकारक, अनेक मुखांचे, ईश्वरीय ( असे होते ) - ११. आकाशात जर एक हजार सूर्यांचा प्रकाश एकत्र दृश्यमान झाला तर तेही त्या महापुरुषाच्या तेजासमान कदाचितच प्रतीत होईल - १२. ”

हे ठीक आहे की, संजयाने त्या विश्वरूपाचे हे असे वर्णन करण्यापूर्वी स्वतः श्रीकृष्णांनी श्लोक ६ व ७ मध्ये त्या स्वतःच्या विश्वरूपाचे केलेले वर्णन संजयाने ऐकले होते, पण ते फार संक्षिप्त होते आणि संजयाने दिलेले वर्णन स्वतः त्याने पाहिल्याअनुसार प्रतीत होते.

पण जर संजयाने ते विश्वरूप प्रत्यक्ष पाहिले होते तर श्रीकृष्णांच्या ( वर उद्धृत ) श्लोक ११-४८ ची संगती कशी लावायची ? जरी श्रीकृष्णांनी त्या श्लोकात, व पुनः श्लोक ५३ मध्ये, अर्जुनाला म्हटले की तुझ्याशिवाय अन्य कोणी मानव हे रूप पाहू शकणार नाही, तरी त्यांनी त्यात एक अपवाद ठेवला होता, जो त्यांनी श्लोक ५४ मध्ये स्पष्ट केला.

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया ।

शक्यं एवविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥११-५३ ॥

भक्त्या त्यनन्यया शक्यं अहमेवविधोऽर्जुन ।

ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥५४॥

“ ज्या प्रकारे तू मला पाहिले आहे तसे माझे दर्शन वेदाध्ययनांनी, तपाचरणांनी, दानांनी व यज्ञांनीही संभव नाही - ५३. परंतु अर्जुना, अनन्य भक्तिद्वारा मला या रूपात जाणणे, दर्शन करणे व तत्त्व स्वरूपात माझ्या ठायी प्रवेश करणे संभव आहे - ५४. ” संजय ऐहिक कर्तव्यपालनार्थ ( भीष्मांप्रमाणे ) कौरवांकडून लढत असे. पण त्याची श्रीकृष्णात परम श्रद्धा होती,

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।

तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्धुवा नीतिर्मतिर्मम ॥१८-७८ ॥

“ जिकडे योगेश्वर कृष्ण, जिकडे धनुर्धारी अर्जुन, तिकडे ऐश्वर्य, विजय, महानता व शाश्वत नीतिमत्ता अशी माझी धारणा आहे. ”

परंतु असे असले तरी संजय सामान्य नेत्रांनी ते विश्वरूप पाहू शकला नसता; महर्षी व्यासांनी त्याला दिव्यदृष्टि दिली होती, आणि कुरुक्षेत्राच्या समग्र भूमीवर होणारी प्रत्येक घटना, प्रकट वा अप्रकट तुला ज्ञान होईल असा संजयाला वर दिला होता. त्याअनुसार संजयाला ते विश्वरूप दर्शन झाले.

( ११ )

श्लोक १२-१२ : ध्यानोपेक्षा निष्काम कर्म श्रेष्ठ आहे काय ?

अध्याय १२ मध्ये श्रीकृष्ण म्हणतात,

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।

निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥१२-८ ॥

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोमि मयि स्थिरम् ।

अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छातुं धनंजय ॥१॥

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव ।



मदर्थमपि कर्माणि कुर्वीमस्मिद्विमाप्स्यसि ॥१०॥  
अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः ।

सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यत्नात्मवान् ॥११॥

“माझ्या ठायीच मन लाव, माझ्यात बुद्धि स्थिर कर, असे करून तू माझ्याच स्वरूपात निवास करशील यात संशय नाही - ८. आणि अर्जुना, जर तू चित्त माझ्यात पूर्ण स्थिर करू शकत नसशील, तर ( पातंजल योग दर्शना-नुसार ) योगिक क्रियांच्या अभ्यासाद्वारे माझ्या प्राप्तीचा प्रयास कर - ९. असा अभ्यासही तुझ्याने होत नसेल, तर कर्माचे कर्तृत्व ( स्वतःचे न मानता ) मला अर्पण करण्याच्या भावनेने कर्माचरण करत रहा, कर्माचे कर्तृत्व मला ( परमेश्वराला ) अर्पण करून कर्माचरण करण्यानेही तू ( ईश्वर प्राप्तीची ) सिद्धी प्राप्त करू शकशील - १०. आणि मला प्राप्त होण्याच्या प्रयासात जर तू हे देखील करण्यास असमर्थ असशील तर स्वतःवर नियंत्रण करून सर्व कर्मांच्या फलाचा ( स्वार्थी परिणामांचा ) त्याग करत जा - ११. ”

या चार श्लोकात ईश्वरात चित्त केंद्रित करण्याला ( ध्यानाला ) सर्वप्रथम स्थान देऊन, व ते शक्य नसल्यास उतरत्या क्रमाने ‘ कर्मफल त्याग ’ ( समाजहितार्थ निष्काम कर्माचरण ) ला सर्वात शेवटचे स्थान दिले आहे. परंतु यानंतर लागलीच येणाऱ्या पुढील श्लोकाची संगति कशी लावावयाची हा गीताभ्यासकांसमोर एक मोठा प्रश्न झाला आहे. (१)

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाध्यानं विशिष्यते ।

ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥१२-१२॥

याच्या प्रथम पंक्तीत ( पातंजल ) योगिक क्रियांच्या अभ्यासापेक्षा ज्ञानोपासना श्रेष्ठ, आणि ( केवळ ) ज्ञानापेक्षा ध्यान श्रेष्ठ म्हटले आहे, परंतु यानंतर “ ध्यानात्कर्मफलत्यागः ” असे म्हटले असून, त्याचा अर्थ प्रायः असा केला जातो की, ‘ ध्यानापेक्षा कर्मफलत्याग श्रेष्ठ आहे. ’ यात याच्यापूर्वी चार श्लोकात दिलेला क्रम उलटा झालेला दिसतो. कर्मसंन्यास-वाद्यांना ही मोठी आपत्ती वाटून, ते या श्लोकाच्या विविध स्पष्टीकरणांच्याद्वारे कर्मसंन्यासाचे श्रेष्ठ स्थान प्रतिपादन करण्याचा प्रयास करतात. रामानुजाचार्य लिहितात की या श्लोकाच्या तृतीय चरणात उल्लेखित ध्यान असफल ज्ञान आहे, आणि फलत्यागपूर्वक कर्माचरण अशा असंपन्न अपूर्ण ध्यानापेक्षा

(१) श्री महादेव देसाई लिहितात ( ‘ The Gita according to Gandhi ’ ) “ This shloka has been a perfect puzzle to all translators and commentators. ”

श्रेष्ठ आहे.

याउलट गीतेत कर्मयोगाचे प्रमुख प्रतिपादन पाहणाऱ्यांना हा श्लोक फार महत्त्वाचा वाटून ते यात कर्मयोगाच्या श्रेष्ठत्वाला मान्यता पाहतात. टिळक लिहितात ( ‘ गीतारहस्य ’ पृष्ठ ७७६-७७७ ), “ हे श्लोक कर्मयोग-दृष्ट्या अत्यंत महत्त्वाचे आहेत... १२ व्या श्लोकात कर्मफलत्यागाचे म्हणजे निष्काम कर्मयोगाचे श्रेष्ठत्व सांगितले आहे. ” योगी अरविंदही या श्लोकात असाच आशय पाहतात ( ‘ Essays on the Gita ’ Second series P - 213 ).

परंतु या संपूर्ण अध्यायावर दृष्टिक्षेप केल्यास त्यात फलत्यागाला ( निष्काम कर्माचरणाला ) ईश्वर ध्यानापेक्षा श्रेष्ठ दाखविण्याचा उद्देश प्रतीत होत नाही. अध्यायाचा आरंभ अर्जुनाच्या या प्रश्नाने होतो -

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते ।

ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥१२-१॥

“ आपले चित्त सतत योगावस्थेत स्थिर करून जे भक्त अशाप्रकारे तुमची ( ईश्वराच्या सगुण रूपाची ) उपासना करतात, आणि जे अव्यक्त अक्षर परब्रह्माची उपासना करतात, त्यात कोण श्रेष्ठ योगी आहेत ? ” श्रीकृष्ण प्रथम सगुण उपासना श्रेष्ठ दाखवून म्हणतात,

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।

श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥२॥

“ चित्त योगावस्थेत स्थिर करणारे जे माझ्यात मन केंद्रित करून परम श्रद्धापूर्वक माझी उपासना करतात ते माझ्या मताने सर्वश्रेष्ठ योगी आहेत. ”

यानंतर निर्गुण उपासनेचीही योग्यता मान्य करून श्रीकृष्णांनी त्याची ( सामान्य जनांसाठी ) कठिणता सांगितली -

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ।

सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥३॥

संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।

ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥४॥

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।

अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥५॥

“ सर्वत्र समबुद्धि ठेवणारे व सर्व प्राण्यांचे हित इच्छणारे जे सर्व इन्द्रियांना नियंत्रित करून, सर्व व्यापक, तर्कातीत, विशुद्ध, स्थिर, शाश्वत, अवर्णनीय अशा अव्यक्त ‘ अक्षर ’ ( परब्रह्म ) ची उपासना करतात, तेही मलाच प्राप्त होतात - ३, ४. ( परंतु ) अव्यक्तांत चित्त केंद्रित करणाऱ्यांची साधना अधिक



कठीण असते, कारण मानवाला अव्यक्ताची अनुभूति फार मुष्किलीने होते - ५.” यानंतर पुनः सगुण उपासनेकडे वळून श्रीकृष्ण म्हणाले, ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः । अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥६॥

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् । भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥७॥ “ परंतु जे सर्व कर्मांचा माझ्यात संन्यास करून ( मला अर्पण करून ), मत्परायण होऊन, अनन्य वृत्तीने ध्यान करीत माझी उपासना करतात - ६, अर्जुना, चित्त माझ्यात केंद्रित करणाऱ्या त्यांचा मी मृत्युग्रस्त संसार सागरातून शीघ्र उद्धार करतो - ७.”

यानंतर ( वर उद्धृत ) श्लोक ८, ९, १०, ११ मध्ये मन व बुद्धि श्रीकृष्णांत स्थिर करण्याचा, व ते शक्य नसल्यास योगिक क्रियांच्या अभ्यासाने मन नियंत्रित करण्याचा, व तेही होत नसल्यास परमेश्वरार्पण वृत्तीने कर्म करण्याचा उपदेश असून, शेवटी श्लोक ११ मध्ये म्हटले आहे की, तेही होत नसल्यास निष्काम कर्मचरण करत रहा.

या साऱ्याचा निष्कर्ष हा आहे की, ईश्वरध्यानयुक्त साध्यचित्ताला यात सर्वश्रेष्ठ स्थान दिले आहे. या अध्यायाच्या शेव श्लोकातही कर्मफल त्यागाची परम श्रेष्ठता दर्शविली नसून, ईश्वराच्या भक्तियुक्त ध्यानाचे महत्त्व वर्णन केले आहे. आणि गीतेत अन्यत्रही अनेक स्थानी ईश्वरध्यानाला सर्वश्रेष्ठ महत्त्व दिले आहे. श्लोक १-३४ ची प्रथम पंक्ती पुनः उच्चारून श्रीकृष्ण आपल्या एकूण उपदेशाचे समापन या शब्दात करतात - सर्वगुहातमं भूयः शृणु मे परमं वचः ।

इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥१८-६४॥

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।

मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥६५॥

“ माझे सर्वात महत्त्वाचे श्रेष्ठ वचन पुनः श्रवण कर; तू माझा दृढ सखा असल्याने मी हे तुझ्या हितार्थासाठी सांगत आहे - ६४. मन माझ्यात लाव. माझी भक्ति कर, माझे यजनपूजन कर, मला नमस्कार कर, याने तू मलाच पोचशील, तू मला प्रिय असल्याने मी हे सत्य तुला सांगत आहे - ६५.” ईश्वरध्यानाचा हा उपदेश सर्वकर्मत्यागस्वरूप नसून प्राप्त परिस्थितीत आवश्यक निष्काम कार्यकर्मांच्या आचरणाशी सुसंगत आहे हे वर सांगितलेच आहे.

हे सर्व लेखात घेता श्लोक १२-१२ त “ ध्यानात् कर्मफलत्यागः ”

चा वर उद्धृत प्रचलित अर्थपेक्षा भिन्न सुसंगत अर्थ करणे आवश्यक आहे. येथे ‘ ध्यानात् ’चा ‘ ध्यानापेक्षा ’ असा तुलनात्मक अर्थ न करता, ‘ ध्यानापासून ’ असा उद्भवदर्शक करणे इष्ट आहे. श्लोकाच्या अंतिम चरणात ‘ त्यागात् शांतिः ’ शब्दात पंचमी विभक्तीचा असाच उद्भवसूचक प्रयोग असून तोच तृतीय चरणात करावा. त्या श्लोकाच्या प्रथम पंक्तीत ‘ श्रेयः ’, ‘ विशिष्यते ’ असे तुलनादर्शक शब्द आहेत तसा काहीही शब्द तृतीय चरणात नाही. अशाप्रकारे त्या श्लोकाचा संपूर्ण अर्थ हा होतो. “ ( केवळ ) ( योगिक क्रियांच्या ) अभ्यासापेक्षा ज्ञानोपासना श्रेष्ठ आहे, आणि ( केवळ ) ज्ञानोपासनेपेक्षा ( ईश्वराचे ठायी ) ध्यान अधिक महत्त्वाचे आहे; ( ईश्वराचे ठायी ) ध्यान साध्य झाल्यावर स्वाभाविकच निष्काम कर्मफलत्यागाची ( कर्मफल ईश्वरार्पण करण्याची ) वृत्ती येते, व त्या त्यागामुळे ( आवश्यक कार्य कर्म करत असतानाही ) चित्ताला शांती प्राप्त होत असते. ” अंतिम चरणात व्यक्त विचार श्लोक ५-१२ मध्येही आला आहे.

उपरोक्त श्लोकाच्या या अर्थानुसार गीतोक्त योगी प्राप्त परिस्थितीत समाजहिताची ( व स्वतःच्या आध्यात्मिक उन्नतीची ) आवश्यक कर्मे त्यागत नाही. अध्याय १८ मध्ये ब्रह्मत्वाला पोचलेल्या योगीविषयी श्रीकृष्ण म्हणतात -

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति ।

समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥१८-५४॥

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ।

ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥५५॥

सर्वकर्माण्यापि सदा कुर्वाणो मद्दयपाश्रयः ।

मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥५६॥

“ ब्रह्मावस्थेत लीन, प्रसन्नचित्त, ( अप्रिय घटनेवर ) शोक व ( प्रिय घटनेची ) इच्छा न करणारा, व सर्व प्राण्यांसाठी समान ( हितकारी ) दृष्टि ठेवणारा माझी परम भक्ति प्राप्त करतो - ५४. मी ( मूलतः ) कोण आहे, माझा विस्तार किती आहे हे तो माझ्या भक्तिद्वारा जाणतो; अशाप्रकारे मला पूर्ण जाणून, व माझ्या स्वरूपाचे सत्य ज्ञान प्राप्त करून तो तदनंतर माझ्या परम स्वरूपाशी तादात्म्य पावतो - ५५. ( प्राप्त परिस्थितीनुसार ) सर्व ( समाजहिताची व स्वतःच्या आध्यात्मिक उन्नतीची ) कर्मे करीत असूनही सदा माझे ध्यान करणारा तो माझ्या कृपेने शाश्वत अव्यय गति प्राप्त करतो - ५६. ” यातही हाच आदेश आहे की, प्राप्त परिस्थितीत लोकहितार्थ जी कर्मे आवश्यक असतील ती ईश्वरध्यानासह केली जावी, परंतु जीवनाच्या



अंतापावेतो मी कर्माचरण करीतच राहीन असा आग्रह नसावा. इतकेच नव्हे तर जीवनाच्या अंतसमयी चित्त पूर्णपणे ईश्वर ध्यानात लावावे असा उपदेश श्रीकृष्णांनी अध्याय ८ श्लोक ५ ते १४ मध्ये केला आहे.

(१२)

श्लोक १३-४ : ही ब्रह्मसूत्रे कोणती ?

तेराव्या अध्यायात श्रीकृष्ण म्हणाले,

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक् ।

ब्रह्मसूत्रपदैश्च हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥१३-४॥

“ऋषींनी ( वेदांच्या ऋचांत ) विविध छंदांनी वेगवेगळ्या प्रकारच्या काव्यरूपात कथन केलेले, आणि ब्रह्मसूत्र वचनात ( उपनिषदात ) तर्कयुक्त सुनिश्चित स्पष्ट केलेले ” ( ज्ञान माझ्यापासून श्रवण कर ) .

येथे ‘ ब्रह्मसूत्रपदैः ’ चा काय अर्थ आहे ? शंकराचार्य त्यात उपनिषदाच्या ब्रह्मप्रतिपादक वचनांचा उल्लेख पाहतात. या उलट रामानुजाचार्य ( व मध्वाचार्य ) त्या शब्दाचा संबंध आचार्य बादरायणांच्या ‘ ब्रह्मसूत्रां ’ शी ( ज्यांना ‘ वेदान्तसूत्रे ’ व ‘ शारीरिक सूत्रे ’ असेही नांव आहे ) लावतात. या दुसऱ्या अर्थानुसार, गीतेची रचना बादरायण पूर्व होऊ शकत नाही. परंतु त्या सूत्रात कोठे कोठे ‘ स्मृतिदेखील असे म्हणते ’ अशा प्रकारचे उल्लेख असून, ते गीतेला अनुलक्षून आहेत असे विद्वानांचे मत आहे. विशेषतः सूत्र २-३-४५, ४-१-१०, व ४-२-२१ चा गीतेशी स्पष्ट संबंध दिसतो. हे पाहता गीता त्या सूत्रांच्या पूर्वीची असली पाहिजे.

टिळक रामानुजाचार्याप्रमाणे अर्थ करतात. पण बादरायणाचार्याच्या सूत्रांत गीतेचा उल्लेख कसा आला असावा याचे हे स्पष्टीकरण देतात ( ‘ गीतारहस्य ’ पृ. ५३१-३२ ), “ ब्रह्मसूत्रे ज्याने रचिली त्यानेच मूळ भारतास व गीतेस हल्लीचे स्वरूप दिले असावे असे मानले म्हणजे काहीच भानगड राहत नाही... जेथे जेथे ग्रंथ त्रुटित झालेला आढळण्यात आला किंवा अशुद्ध अथवा अपुरा वाटला तेथे त्याची शुद्धि अगर पूर्ति करून व अनुक्रमणिका वगैरे जोडून बादरायणाचार्यांनी या ग्रंथाचे पुनरुज्जीवन केले असावे किंवा त्यास हल्लीचे रूप दिले असावे... हल्लीच्या गीतेस आधारभूत झालेली गीता बादरायणाचार्यांच्याहि पूर्वी उपलब्ध असल्यामुळे तिचा ब्रह्मसूत्रात ‘ स्मृति ’ या शब्दाने निर्देश केला, व महाभारताची शुद्धि करताना क्षेत्रक्षेत्रज्ञाचा सविस्तर विचार ब्रह्मसूत्रांत केला आहे असे गीतेत सांगितले. ”

परंतु बादरायणांच्या सूत्रात सांख्य दर्शनाचे आवेशाने खंडन आहे,

आणि गीता एकूण दृष्टीने सांख्यदर्शनाचा आदर करते ( २-३९, ३-३, ५-४, ५-५, १०-२६, १३-२४ ). हे पाहता गीतेच्या ‘ शुद्धि ’ कत्यांनी ती सूत्रे रचली असतील असे मानणे कठीण आहे. याच्या विपरीत, वेदोपनिषदात प्रतिपादित ज्ञान मी संक्षेपाने सांगतो, हे श्रीकृष्णाचे वचन उचित प्रतीत होते.

या श्लोकातील “ ब्रह्मसूत्रपदैः ” चा संबंध उपनिषदाच्या परब्रह्मविषयक वचनांशी याची पुष्टी या अध्यायाची उपनिषदाशी तुलना केल्याने होते. श्रीकृष्ण म्हणतात,

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ञात्वामृतमश्नुते ।

अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥१३-१२॥

“जे ( अंतिम ) जाणावयाचे, जे जाणल्याने ( अनुभव केल्याने ) अमृतत्व ( मोक्षा ) ची प्राप्ती होते ते मी सांगतो, या अनादि परम ‘ ब्रह्म ’ ला सत् म्हणत नाहीत व असतही म्हणत नाहीत. ” यात उपनिषदांच्या या वचनांचा प्रतिध्वनि आहे. “ विद्यायाऽमृतमश्नुते ” ( ईश उपनिषद ), “ य एतिद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ” ( श्वेताश्वतर ३-१३, ४-१७, कठ २-३-१ ), “ एवं विदुरमृतास्ते भवन्ति ” ( श्वेताश्वतर ४-२० ), “ यं ज्ञात्वामुच्यते जन्तुरमृतत्वं च गच्छति ” ( कठ २-३-८ ), “ न सन्न चासन् शिव एव केवलः ” ( श्वेताश्वतर, ४-४-१८ ). यानंतर गीतेचा श्लोक १३ शब्दशः श्वेताश्वतर उपनिषदाचा श्लोक ३-१६ असून, गीताश्लोक १४ चे श्वेताश्वतर ३-१६ शी साम्य आहे. आणि गीता श्लोक १५ ईश उपनिषद श्लोक ५, व मुण्डक उपनिषद ३-१-७ च्या समान आहे. याशिवाय गीता श्लोक १७ शी समान उपनिषदांची ही वचने आहेत, “ हिरण्ये परे कोशे विरजे ब्रह्म निष्कलम् । तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद्यदात्मविदो विदुः ॥ ” ( मुण्डक २-२-९ ), “ तदेवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम् ” ( बृहदारण्यक ४-४-१६ ) “ ओमित्येव ध्यायय आत्मानं । स्वस्तिः वः पाराय तमसः परस्तात् ॥ ” ( मुण्डक, २-२-६ ), “ वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥ ” ( श्वेताश्वतर ३-८ ), अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्ट ॥ ( श्वेताश्वतर ३-१३, कठ २-३-१७ ), “ एष देवो विश्वकर्मा महात्मा । सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः ॥ ” ( श्वेताश्वतर ४-१७ ).

या उलट बादरायणाचार्यांच्या सूत्रांचे गीतेशी असे साम्य आढळत नाही. असे साम्य दाखविण्यासाठी रामानुजाचार्य काही सूत्रांचा ( २-३-१७, १८, ४१ ) उल्लेख करतात, पण त्यात आणि गीतेच्या तेराव्या अध्यायात साम्य दिसत नाही. काही थोडे दिसले तरी या दोन्ही रचना उपनिषदांवर आधारित असल्याने ते स्वाभाविक आहे.



उक्त श्लोक १३-४ मधील 'छन्दोभिः' शब्दाने वेद सूचित होतात. वेदांची रचना भिन्न भिन्न छंदात आहे म्हणून गीताकारांनी "विविधेः" शब्द प्रयुक्त केला आहे. वेदांसाठी 'छंद' शब्द गीतेच्या पुढील श्लोकातही आला आहे.

बृहत्साम तथा सामां गायत्री छन्दसामहम् ।

मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः ॥ १०-३५ ॥

" ( सामवेदाच्या गेय ) सामांत मी 'बृहत्' नांवाचा साम आहे, आणि ( वेदांच्या ) छन्दोबद्ध ऋचांत मी गायत्री मंत्र आहे, महिन्यात मी मार्गशीर्ष व ऋतूत वसंत आहे. " (१) वेदांसाठी 'छन्द' शब्द ( 'छन्दांसि' ) श्लोक १५-१ मध्येही आला आहे.

(१३)

श्लोक ९-१७ : श्रीकृष्ण जगाचे पिता व माताही

श्रीकृष्ण म्हणतात,

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्नाभं दधाम्यहम् ।

संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥ १४-३ ॥

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूलतः संभवन्ति याः ।

तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥ ४ ॥

" ( ज्याला ) 'महद् ब्रह्म' ( म्हणतात ती मूल अचेतन प्रकृति ) माझ्या सृष्टिनिर्मितीचे माध्यम असून तेथे मी ( संकल्पद्वारा ) सृष्टि आरंभाला चालना देतो, अर्जुना, त्यापासून सर्व प्राण्यांची उत्पत्ती होते - ३. अर्जुना, सर्व प्राण्यांची जी शरीरे आहेत त्यांचे ( ज्याला ) 'महत् ब्रह्म' म्हणतात ती मूल प्रकृति ) उद्भवस्थान असून मी त्यांचा ( संकल्परूपाने ) बीज टाकणारा पिता आहे - ४. "

मूल अचेतन प्रकृतीला सृष्टीची माता म्हटले, तरी गीता त्या प्रकृतीला परमेश्वराचीच 'अपरा प्रकृति' म्हणत असल्याने ( ७-४, ५ ) श्रीकृष्ण स्वतःला जगाचा पिता व माता देखील म्हणतात -

-----  
(१) महाभारतात मासगणना मार्गशीर्षापासून सुरू होते - अनुशासन पर्व अध्याय १०६, १०९, आणि ऋतुचक्राचा आरंभ ( मार्गशीर्षात प्रारंभ होणाऱ्या ) शिशिरमध्ये दाखविला आहे. ( आश्वमेधिक पर्व अध्याय ४४ ). परंतु नैसर्गिक सृष्टिसौंदर्याच्या दृष्टीने ऋतूत ( चैत्र मासापासून प्रारंभ होणाऱ्या, ) 'वसंत' ला प्राधान्य देण्यात आले. कालांतराने मासगणनाही चैत्रापासून सुरू केली जाऊ लागली.

१९८ \* गीता तत्त्व दर्शन

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः ।

वेद्यं पवित्रमोँकार ऋक्साम यजुर्वेदच ॥ १-१७ ॥

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।

प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥ १८ ॥

" मी या जगाचा पिता, माता, पालन कर्ता ( आधार ), पितामह आहे; जे काही ज्ञेय ( ज्ञानयोग ), पवित्र आहे, ओँकार, आणि ऋग्वेद, सामवेद व यजुर्वेदही मी आहे ( त्यात माझे यजनपूजन होते ) - १७. मी ( विश्वासाठी ) अंतिम गति, पालन पोषण कर्ता, अधिष्ठाता ( स्वामी ), ( यच्चयावत् अंतर्बाह्य ) पाहणारा, मूलाधार, आश्रमस्थान, हितकर्ता, उद्गमस्थान, ( कल्पाच्या अंती ) विलयस्थान ( ९-७ ), संरक्षक, ( दोन कल्पांमध्ये ) विश्वाला स्वतः ( ज्या अव्यक्त स्वरूपा ) त अंतर्भूत करणारा, सृष्टीचे अविनाशी बीज आहे - १८. " श्लोक १७ मध्ये श्रीकृष्ण स्वतःला जगाचे पितामह देखील म्हणतात त्याचा आशय असा की, चतुर्मुख ब्रह्मदेवाला सृष्टिनिर्माता म्हटले, तर त्याचाही उद्भव सर्वोच्च परमेश्वरात आहे. ( ११-३७ ).

(१४)

'ब्रह्म' शब्दाचे भिन्न अर्थ

गीतेत 'ब्रह्म' शब्द वेगवेगळ्या अर्थाने प्रयुक्त आहे. श्लोक २-७२, ४-२४, १३-३०, १४-२६, १७-२३ व १८-५४ मध्ये तो शब्द सर्वोच्च एकमेव सर्वव्यापी 'परमब्रह्म' साठी आहे. श्लोक ११-१५ त त्याचा आशय प्रत्येक कल्पाच्या आरंभी सृष्टि प्रत्यक्ष निर्माण करणारा चतुर्मुख ब्रह्मदेव असा असून, काही ठिकाणी ( उदाहरणार्थ ४-३१ व ८-२४ ) त्याचा अर्थ त्या ब्रह्मदेवाचे निवासस्थान ( ब्रह्मलोक ) असा आहे. त्या शब्दाचा आणखी एक अर्थ 'वेद' आहे ( ३-१५ ).

(१५)

श्लोक १८-१७ : "हत्वापि स इमान् लोकान्"

अठराव्या अध्यायात श्रीकृष्ण म्हणतात -

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।

हत्वाऽपि स इमाल्लोकान् हन्ति न निबध्यते ॥ १८-१७ ॥

यात म्हटले आहे की, ज्याचे मन अहंकाररहित व बुद्धि आसक्तिरहित असेल त्याने ( धर्म रक्षणार्थ ) 'इमान् लोकान्' ( या लोकांना ) मारले तरी तो

गीता तत्त्व दर्शन \* १९९



वस्तुतः ( मूलभूत दृष्टिने ) त्यांची हत्या करणारा होत नाही, आणि तो त्यामुळे कोणत्याही बंधनात पडत नाही. यात ' इमान् लोकान् ' शब्दांनी कोणते लोक निर्दिष्ट आहेत ? शंकराचार्य त्या शब्दांचा अर्थ ' सर्वां प्राणिनः ' असा करून, ' निबध्यते 'चा अर्थ ' न तत्कार्येण अधर्म फलेन संबध्यते ' असा देतात. अनेक अन्यही असाच अर्थ करतात. अन्य कर्माची काय कथा ?

परंतु सर्व सज्जन-दुर्जन, स्त्री-पुरुष, आबाल वृद्ध प्राण्यांच्या मारले जाण्याची कल्पना गीतेच्या या श्लोकांत कशाला असेल ? निरहंकारी व निरासक्त योगी कोणत्या कारणासाठी असे महाविनाशी कर्म करेल ?

वस्तुतः या श्लोकांत " इमान् लोकान् " शब्दांनी श्रीकृष्ण युद्धार्थ समोर उभ्या कौरवसैन्याकडे अर्जुनाचे लक्ष आकर्षित करून, त्याला निःशंकमानने ते युद्ध करण्यास प्रेरित करीत आहेत. ज्या शत्रुपक्षीय स्वकुल बांधवांच्या वधाने महापाप लागण्याची अर्जुनाला चिंता झाली होती, त्यांना उद्देशून श्रीकृष्णांनी येथे ' इमान् लोकान् ' म्हटले आहे. हे तेच लोक आहेत ज्यांना उद्देशून श्रीकृष्ण विश्वरूपदर्शन समयी म्हणाले,

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो

लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः

क्रतोऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे

येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ॥११-३२॥

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व

जित्वा शत्रून् भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम् ।

मयैवैते निहताः पूर्वमेव

निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥३३॥

"मी लोकक्षय करणारा वृद्धिंगत 'काल' असून येथे (अधर्मी) लोकांचा संहार करण्यास प्रवृत्त झालो आहे; शत्रुसैन्यात उभे हे सारे योद्धे तुझ्या विनाही (तू यांच्याशी हे युद्ध न केले तरी) जिवंत राहणार नाहीत - ३२. म्हणून तू ऊठ, उभा रहा, (हे युद्ध करून) यश प्राप्त कर, शत्रूंना जिंकून समृद्ध राज्याचा उपभोग घे, माझ्याद्वारे (परमेश्वराद्वारे) हे आधीच मारले गेले आहेत (मृत्युदंडास पात्र ठरवले गेले आहेत), (म्हणून) अर्जुना, (आता या युद्धात यांचा प्रत्यक्ष वध करण्यात) तू केवळ एक निमित्त (साधन) हो - ३३."

अशाप्रकारे श्लोक १८-१७ चा अर्थ होईल, "कौरवांच्या घोर दुष्कर्माचरणामुळे व त्यांच्या समर्थनार्थ उभे राहण्यामुळे ईश्वरी न्यायानुसार त्यांचे मरण निश्चित असल्याने, ज्याच्या मनात कर्तृत्वाचा अहंकार नसेल व

ज्याची बुद्धि वैयक्तिक आसक्तीने लिप्त नसेल त्याने (या 'धर्म्य' युद्धात) त्यांचा वध केला, तरी तो मूलतः त्यांची हत्या करणारा ठरणार नाही आणि परिणामस्वरूप तो कोणत्याही (पापस्वरूप) बंधनात पडणार नाही."

रामानुजाचार्यांनी या श्लोकात 'इमान् लोकान्'चा संबंध अर्जुनासमोर युद्धार्थ उभ्या लोकांशीच लावला आहे.

(१६)

श्लोक १८-६६ : "सर्व धर्मान् परित्यज्य"

गीतेत 'धर्म' शब्दही भिन्न भिन्न अर्थांनी प्रयुक्त आहे. श्लोक ३-३५ व १८-३७ मध्ये तो 'कर्तव्य' या अर्थाने आला आहे. परंतु 'धर्म-संस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे' (४-८) यांत तो शब्द 'सत्य, नैतिकता व न्याय' या आशयाचा आहे. गीतोपदेशाच्या समापनात तो 'धर्म' शब्द अशा वेगळ्या प्रकारे आला आहे -

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज ।

अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥१८-६६॥

यात श्रीकृष्ण अर्जुनाला म्हणतात की, 'सर्व धर्मांचा परित्याग करून मला एकनिष्ठेने शरण ये, मी तुला सर्व पापांपासून मुक्त ठेवीन, (हे युद्ध केल्यास महापाप लागेल असा) शोक करू नको.' यात 'धर्म' शब्दाचा काय अर्थ आहे ? अनेक अनुवादक येथेही त्याचा 'कर्तव्य' असा अर्थ करतात.

महादेव देसाई (The Gita according to Gandhi पुस्तकात) वरील श्लोकाच्या प्रथम पंक्तीचा हा अनुवाद देतात, "Abandon all duties and come to me the only refuge"; स्वामी चिड्दानंद (The Bhagavadgita पुस्तकात) असाच अर्थ देतात. आणि गोरखपूरच्या गीताप्रेसद्वारा प्रकाशित 'श्रीमद्भगवतगीता, (तत्त्वविवेचनी हिंदी टीकासहित) पुस्तकातही या श्लोकाच्या प्रथम पंक्तीचे हे भाषांतर दिले आहे, "सम्पूर्ण धर्मोको अर्थात् सम्पूर्ण कर्तव्यकर्मोको मुझमे त्याग कर तू केवळ एक मुझ सर्व शक्तिमान सर्वाधार परमेश्वर की शरण मे आजा."

परंतु, "स्वधर्मे निधनं श्रेयः" (३-३५) असा पूर्ण कर्तव्य-पालनाचा आदेश देणारे श्रीकृष्ण आपल्या उपदेशाच्या शेवटी अर्जुनाला 'सर्व कर्तव्ये त्यागण्याचा' आदेश कसा देतो ? मोहग्रस्त अर्जुनाला "तस्मात् युध्यस्व भारत" (२-१८), "तस्मात् उत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः" (२-३७), "ततो युद्धाय युज्यस्व" (२-३८), आणि प्रत्यक्ष विश्वरूपदर्शन दिल्यावरही "युध्यस्व" (११-३४) असा अर्जुनाला



आदेश देणारे श्रीकृष्ण, आपल्या उपदेशाच्या समामीत 'तू आपली सर्व कर्तव्ये त्यागून केवळ माझा आश्रय कर (माझी भक्ति करत रहा)' असा आदेश कसा देते ?

शंकराचार्य "सर्वधर्मान् परित्यज्य"चा अर्थ "संन्यस्य सर्व कर्माणि" (सर्व कर्मांचा संन्यास करून) असा देतात. परंतु असा अर्थ श्रीकृष्णांनी अर्जुनाला त्या युद्धासाठी पुनः पुनः प्रेरित करण्याच्या सर्वथा विपरीत आहे. आणि श्रीकृष्णांचा अर्जुनाला 'संन्यस्य सर्व कर्माणि' असा अंतिम आदेश असता, तर त्यानंतर लागलीच "करिष्ये वचनं तव" (१८-७३) असे म्हणून अर्जुनाने त्या युद्धासाठी धनुष्य कसे उचलले ? आणि स्वतः श्रीकृष्णांनीही त्याचे सारथ्य कसे चालू ठेवले ?

या श्लोकातील "सर्वधर्मान् परित्यज्य" शब्दांचे टिळक असे स्पष्टीकरण देतात ('गीतारहस्य' पृष्ठ ८५०), "धर्म या शब्दाने अहिंसा धर्म, सत्यधर्म, मातृपितृसेवा धर्म, गुरुसेवा धर्म, यज्ञयाग धर्म, दानधर्म, संन्यास धर्म इत्यादि परमेश्वर प्राप्तीचे जे अनेक मार्ग शास्त्रातून सांगितले आहेत तेच येथे अभिप्रेत आहेत." श्रीकृष्णांच्या अर्जुनाला त्या आदेशात सत्यधर्म, मातृपितृ सेवा धर्म, यज्ञयाग धर्म, दानधर्म आदींच्या त्यागाचा उल्लेख पाहणे आश्चर्यकारक आहे !

मग उक्त श्लोक १८-६६ मध्ये ज्यांचा परित्याग श्रीकृष्णांनी अर्जुनास सांगितला आहे ते 'सर्व धर्म' कोणते ? हा श्लोक विशेषरूपाने अर्जुनाच्या गीतारंभ समयीच्या मानसिक अवस्थेला अनुलक्षून आहे. "मामेकं शरणं ब्रज"चा संबंध अर्जुनाच्या "शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्" (२-७) या वचनाशी असून, त्याचा आशय 'माझ्यावर एकनिष्ठ श्रद्धा ठेवून माझ्या उपदेशानुसार हे युद्ध कर' असा आहे. श्लोकाच्या द्वितीय पंक्तीत दिलेले पापमुक्तीचे आश्वासन अर्जुनाने सुरवातीस व्यक्त पापभय (१-३६, ३९, ४५) च्या निराकरणात आहे. आणि श्रीकृष्णांच्या "मा शुचः" शब्दांचा संबंध अर्जुनाच्या गीतारंभसमयीच्या (पापभयाने उत्पन्न) शोकाकुल अवस्थेशी आहे (१-४७, २-१, २-८, २-१०). या सान्या संदर्भात श्रीकृष्णांच्या "सर्वधर्मान् परित्यज्य" शब्दातील 'धर्म' शब्द अर्जुनाने सुरवातीस उल्लेख केलेल्या कुलधर्माशी व जातिधर्माशी आहे (१-४०, ४३, ४४). आपल्याच कुलबांधांविरूद्ध या युद्धामुळे कुळाचा संहार होऊन कुलधर्माचे व जातिधर्माचे घोर उल्लंघन होईल अशी गंभीर चिंता अर्जुनाने व्यक्त केली होती. सामान्यतः या धर्माचे पालन इष्ट असले तरी, दुष्ट कौरवांविरूद्ध न्यायारक्षणार्थ हे 'धर्म्य' युद्ध करण्यात तू त्या धर्माच्या

उल्लंघनाची चिंता करू नको असा अर्जुनाला आदेश देऊन, श्रीकृष्णांनी 'असे केल्याने तुला पाप लागणार नाही' असे आश्वासन दिले. अशाप्रकारे प्रस्तुत श्लोकाचा हा सुसंगत संयुक्तिक अर्थ होतो. "पारंपरिक कुलधर्म व जातिधर्म यांविषयी सारा विचार या समयी त्यागून, माझ्यावर श्रद्धा ठेव (व समाजात न्यायस्थापनेसाठी होणारे हे 'धर्म्य' युद्ध कर), (कुलधर्माच्या व जातिधर्माच्या उल्लंघनाने होणाऱ्या) सर्व पापांपासून मी तुला मुक्त ठेवीन, (त्यांच्यासंबंधी पापभयाने) शोक करू नको." (१)

सारांश, जेथे व्यापक राष्ट्रहित संरक्षणाचा प्रसंग असेल तेथे वैयक्तिक कुलधर्म व जातिधर्म आदिची चिंता न करता, समाजहितार्थ जे आवश्यक असेल ते करावे असा व्यापक देशहिताचा उपदेश गीताकारांनी या श्लोकात श्रीकृष्णमुखाने दिला आहे.

(१७)

श्लोक १८-५९: "प्रकृतितस्त्वां निचोक्ष्यति"

गीतेला मानवाचे इच्छास्वातंत्र्य (Freedom of the will) मान्य आहे काय ? जर मानवाला कर्माचरणात स्वतंत्रता नसेल तर तो आपल्या कर्माच्या चांगल्या वाईट परिणामांबद्दल जबाबदार राहणार नाही.

या संदर्भात गीतेच्या समारोपात श्रीकृष्ण अर्जुनास म्हणतात, चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः ।

बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥१८-५७॥

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ।

अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि ॥५८॥

"मनाने सर्व कर्मांचा माझ्या ठायी संन्यास करून, मत्परायण होऊन, बुद्धियोगाचा आश्रय करून, आपले अंतःकरण सतत माझ्या ठायी स्थिर कर - ५७. माझ्यात चित्त केंद्रित केल्यास तू माझ्या कृपेने (पाप, नरक आदि) सर्व संकटे पार करशील; पण जर तू अहंकारावश मी सांगितलेले

(१) डॉ. राधाकृष्णन या श्लोकाच्या प्रथम पंक्तीचा अनुवाद "Abandoning all duties come to me alone for shelter."

असाच करतात. परंतु स्पष्टीकरणाच्या टीपेत लिहितात की, अर्जुन त्या युद्धाने पितर, जाति, गुरुजनसंबंधी ज्या पारंपरिक नीतिनियमांच्या व रूढींच्या उल्लंघनाने चिंतीत झाला होता त्यांची चिंता न करण्याचा श्रीकृष्णाने त्याला उपदेश दिला आहे.



ऐकणार नाहीस ( व हे युद्ध करणार नाहीस ) तर तुझा अधःपात होईल - ५८. ” इतके म्हणून श्रीकृष्ण आणखी म्हणाले,

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे ।

मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥५९॥

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा ।

कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्कारिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥६०॥

या दोन श्लोकांचा प्रायः असा आशय घेतला जातो की, ते युद्ध न करण्याचा तुझा विचार व्यर्थ असून, तुझ्या इच्छेविरूद्धही प्रकृति तुझ्याकडून हे युद्ध कारवील. गीताप्रेसद्वारा प्रकाशित ‘श्रीमद्भगवद्गीता’ पुस्तकात जयदयाल गोयंदका या श्लोकांचा हा ( हिंदी ) अनुवाद देतात, “ जो तू अहंकार का आश्रय लेकर यह मान रहा है की ‘मैं युद्ध नहीं करूंगा’, तेरा यह निश्चय मिथ्या है, क्योंकि की तेरा स्वभाव तुझे जबर्दस्ती युद्धमें लगा देगा ॥५९॥ हे कुन्ती पुत्र, जिस कर्मको तू मोह के कारण करना नहीं चाहता, उसको भी अपने पूर्वकृत स्वाभाविक कर्मसे बंधा हुआ परवश होकर करेगा ॥६०॥ ” अशाच दृष्टिकोनाने महादेव देसाई या श्लोकांचे हे भाषांतर देतात, “ If obsessed by the sense of ‘I thou thinkest’ I will not fight, vain is thy obsession, ( thy ) nature will compel thee - 59. What thou wilt not do, o Kaunteya, because of thy delusion, thou shalt do, even against thy will, bound as thou art by the duty to which thou art born. ” ( ‘ The Gita according to Gandhi ’ )

परंतु श्रीकृष्णांचा या श्लोकात असा आशय असेल तर अर्जुनाला कर्माचरणांत इच्छा स्वातंत्र्य नव्हते असा निष्कर्ष होईल. आणि जर अर्जुनाला ते स्वातंत्र्य नव्हते तर “ योगस्थः कुरु कर्माणि ” ( २-४८ ), “ नियतं कुरु कर्म त्वं ” ( ३-८ ), “ तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ” ( ३-१९ ) आदि उपदेश करण्यात काय उद्देश होता ?

म्हणून येथे मानवाच्या कर्माचरण स्वातंत्र्याविषयी गीतेची काय भूमिका आहे हे सुसंगतरीत्या पाहणे आवश्यक आहे. पूर्वखंडात पाहिल्याप्रमाणे अर्जुनाच्या मनात त्या समयी कौरवांविषयी ममता नव्हती, तो त्यांना ‘आततायी’ ( अतिदुष्ट, वधाई ) म्हणतो. आणि श्रीकृष्णांनीही त्यांच्या विरूद्ध त्या युद्धाला ‘धर्म्य’ ( न्यायक्षणार्थ आवश्यक ) म्हटले. पण श्रीकृष्णांच्या आदेशाविरूद्ध अर्जुन स्वकुलवधसंबंधी पापाच्या भयामुळे त्या युद्धास नकार देत राहता, तर मनातून त्याचा क्षात्र स्वभाव, आणि दुष्ट

कौरवांनी द्रौपदीसहित पांडवांना दिलेल्या घोर अन्यायपूर्ण कष्टांची स्मृति त्याला मनातून ते युद्ध करण्यासाठी ‘टोचत’ राहिले असते. गीतेच्या शब्दात तो ‘मिथ्याचार’ झाला असता. श्लोक ३-६ मध्ये आलेला ‘मिथ्या’ शब्द येथे श्लोक १८-५९ मध्येही आला असून, त्याचा आशय बाह्यतः इन्द्रियांचे नियंत्रण पण मनात आकर्षण असा आहे. याच्या विपरीत मन व बुद्धीच्या सहमतीने उचित ‘इन्द्रिय संयम’ भिन्न आहे ( २-६१, २-६८, ३-७ ).

अशा प्रकारे श्लोक १८-५९ मधील “ प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ” चा आशय प्रकृति तुझ्याकडून जबर्दस्तीने हे युद्ध करवून घेईल असा नसून, तुला हे युद्ध करण्यासाठी आतून टोचत राहील, प्रेरित करीत राहील असा आहे. या ‘नियोक्ष्यति’ सारखा ‘नियोजयसि’ शब्द पुढील श्लोकात अर्जुनाने वापरला आहे.

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन ।

तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥३-१॥

“ कृष्णा, जर तुझ्या मताप्रमाणे नुसत्या कर्मापेक्षा ( साम्यत्वांत स्थित ) बुद्धि अधिक श्रेष्ठ आहे तर, केशवा, मला या घोरे ( युद्ध ) कर्मासाठी का प्रेरित करीत आहेस ? ” यात श्रीकृष्णाला अर्जुन विचारतो की तू मला या भीषण कर्मासाठी का ‘नियोजयसि’ ? ” या क्रियापदात ‘नि + युज’ धातू असून तोच ‘नियोक्ष्यति’ मध्ये आहे. श्रीकृष्णांचा उद्देश अर्जुनाकडून ते युद्ध जबर्दस्तीने करवून घेण्याचा नसून, त्याला स्वतःला त्या युद्धासाठी प्रेरित करणे हा होता. अर्जुनाच्याही ( श्रीकृष्णांना उद्देशून ) ‘नियोजयसि’ शब्दाचा आशय तू माझ्याकडून हे युद्ध जबर्दस्ती का करवीत आहेस असा नसून, मला प्रेरित का करीत आहेस असा आहे. याच दृष्टीने अर्जुन लागलीच श्लोक ३-२ मध्ये म्हणतो की, तू माझ्या बुद्धीला मोह होण्यासारखे सांगत आहेस. अर्जुनाच्या या ‘नियोजयसि’ क्रियापदाप्रमाणेच श्रीकृष्णाच्या ( श्लोक १८-५९ मधील ) ‘नियोक्ष्यति’चा आशय घेणे उचित होईल.

याच संदर्भात श्लोक १८-६० वर ही सुसंगत विचार झेष्ट आहे. श्लोक ५९ मध्ये म्हटल्याप्रमाणे जर अर्जुन त्या ‘धर्म्य’ युद्धाला अहंकारवश नकार देत राहिला असता, तर ( वर म्हटल्याप्रमाणे ) त्याचा क्षात्र स्वभाव मनात त्याला त्या युद्धासाठी प्रेरित करीत राहिला असता. अशा अंतर्विरोधी व तीव्र मानसिक संघर्षाच्या अवस्थेत एखाद्या क्षणी तो त्या युद्धाकडे वळणेही संभव होते. आणि त्यात त्याच्या हातून ते युद्ध उचित प्रकारे लढले न जाणे शक्य होते. पण हा केवळ एक संभव होता, व हे पूर्ण पूर्व निश्चित नव्हते. म्हणून श्लोक ६० च्या चतुर्थ चरणाचा अन्वय ‘अवशः अपि तत् कारिष्यसि’



असा नसून 'तत् अवशः करिष्यसि अपि' असा सुसंगत होईल.

अशा प्रकारे श्लोक १८-५९, ६०चा अर्थ हा होतो, "जर (माझा उपदेश न मानून) तू अहंकारवश 'न योत्स्ये' (मी लढणार नाही) असा विचार करत राहशील तर तुझा हा मनोव्यापार 'मिथ्या' (अवास्तविक) होईल, (कारण) (तुझी क्षात्र) प्रवृत्ती (स्वभाववृत्ती) तुला (या न्याय्य युद्धासाठी) आतून प्रेरित करित राहील - ५९. अर्जुना, तू जे (हे न्याय्य युद्ध) करण्यास बुद्धीच्या भ्रामक पाप कल्पनेमुळे नकार देत आहेस, ते (हे युद्ध) (स्वतःची क्षात्र स्वभावानुरूप कर्मप्रवृत्ती आतून प्रेरित करित राहण्यामुळे) तुझी इच्छा नसतानाही एखादे वेळेस करायला लागशील असाही संभव आहे - ६०."

उद्धरेदात्मनात्मानं ॥ ६-५ ॥

श्रीकृष्ण म्हणतात,

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।

भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥१८-६१॥

"अर्जुना, ईश्वर सर्व प्राण्यांच्या हृदयात स्थित असतो आणि जणू (एखाद्या फिरत राहणाऱ्या) चक्रावर ठेवण्या समान सर्व प्राण्यांना आपल्या मायेने (प्रत्येकाच्या कर्मानुसार) (संसारात) भ्रमण करायला लावतो." परंतु याचा आशय असा नाही की, मानवाला कर्म स्वातंत्र्य नसून, ईश्वर त्याच्याकडून जबरदस्तीने कर्म करवून घेतो. हे खरे की आपला जन्म कोठे व कोणत्या स्वरूपात होईल हे व्यक्तीच्या हातात नाही, आणि जीवनात कशी परिस्थिती प्राप्त होत राहील हेही अनेक प्रमाणात त्याच्या इच्छेवर अवलंबून नसते. परमेश्वर मानवाला प्रत्येकाच्या पूर्वकर्मानुसार परिस्थितीत जन्म देतो व जीवनात ठेवत असतो पण प्राप्त परिस्थितीत आपले कर्म निर्धारित करण्यास मानव स्वतंत्र असतो. डॉ. राधाकृष्णन मार्मिक शब्दात म्हणतात, "The Bhagavadgita asks us to raise the self by the self. We can use the material with which we are endowed to promote our ideals. The cards in the game of life are given to us. We do not select them. They are traced to our past karma; but we can call as please, lead what suit we will, and as we play, we gain or lose. And there is freedom." ('The Hindu view of life' P - 54)

न कर्तृत्वं न कर्मणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।

न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥५-१४॥

सादते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः ।

अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥१५॥

"ईश्वर मानवाच्या मनात कर्मकर्तृत्वाची इच्छा उत्पन्न करत नाही, व त्याच्याकडून कर्म करवून घेत नाही, तो (ईश्वर) मानवाला कर्माची फळे प्राप्त होण्यात हस्तक्षेप करित नाही, कर्मफल संबंध (कर्माच्या सत्त्व रज तम) स्वरूपानुसार होत असतो - १४ (पाहा १४-१४ ते १८). सर्वव्यापी परमात्मा कोणाही प्राण्याला पापपुण्य देत नाही, परंतु अज्ञानाने ज्यांचे ज्ञान झाकले गेले आहे असे मानव भ्रमित होऊन ईश्वराविषयी चुकीचा विचार करत असतात - १५." परंतु जे श्रेयप्राप्ती हेतू त्यांना संभव सर्व प्रयास करतात त्यांना ईश्वर कृपा करून 'बुद्धियोग' देतो, व त्यांच्या हृदयातील अज्ञान नष्ट करतो (१०-१०, ११).

ईश्वर मानवाला इन्द्रिये व शक्ति देतो, पण त्यांचा उपयोग कसा करायचा हे व्यक्तीवर निर्भर असते.

बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः ।

सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चामयमेव च ॥१०-४॥

अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः ।

भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ॥५॥

"बुद्धि, ज्ञान, निर्मोहता (उचित विवेकस्थिती), क्षमावृत्ती, सत्यां रुचि, इन्द्रियसंयम, शांतवृत्ती, सुखदुःखानुभव, सत्याच्या अस्तित्वाची व असत्याच्या अभावाची जाणीव, आणि भय-अभय भावनादेखील - ४, अहिंसा, समदृष्टि, संतोष, तपाचरणवृत्ती, दानशीलता, यशापयशाचा निर्विकार स्वीकार, हे मानवाचे विविध मनोव्यापार माझ्यापासूनच (ईश्वरापासून) उत्पन्न होतात - ५." परंतु, या स्वभावगुणांचा व प्रवृत्तींचा वापर केव्हा व कसा करायचा याचा निर्णय व्यक्तीने स्वतः करायचा असतो. श्रीकृष्ण हेही म्हणतात,

सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो ।

मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ॥१५-१५॥

"मी सर्वांच्या हृदयात स्थित आहे, माझ्यापासूनच त्यांना स्मृति, ज्ञान प्राप्त करण्याची पात्रता व (अनिष्ट विषयांचे) विस्मरण करण्याची वृत्ती प्राप्त होते..." परंतु जीवनात यांचा प्रत्यक्ष प्रयोग ईश्वर करवत नाही, ते मानवाच्या इच्छा स्वातंत्र्यावर अवलंबून आहे. काही भाष्यकार येथे 'अपोहनं' चा अर्थ 'विस्मरण' ऐवजी 'पूर्ण ज्ञानावस्था' असा करतात; आचार्य रामानुज



व वल्लभ हे दोन्ही अर्थ देतात. ( जाता जाता उल्लेख करतो की सर्वच विस्मरण अनिष्ट नसते व सर्व स्मृती इष्ट नसते ).

गीतोपदेश समाप्त करीत श्रीकृष्ण अर्जुनास म्हणतात,

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्ब्रह्मतरं मया ।

विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥१८-६३॥

“ अशा प्रकारे हे अत्यंत गुह्य ( श्रेष्ठ ) ज्ञान मी तुला कथन केले आहे. यावर पूर्ण विचार कर; आणि इच्छेस येईल तसे कर. ” यात श्रीकृष्ण अर्जुनाचे कर्माचरण स्वातंत्र्य निःसंदिग्ध मान्य करतात. आणि तेच इच्छा स्वातंत्र्य सर्व मानवांना मान्य करून श्रीकृष्ण हा उदात्त संदेश देतात -

उद्धेयदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।

आत्मैव ह्यात्मनो बंधुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥६-५॥

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।

अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥६-६॥

“ स्वतः आपला उद्धार करावा, स्वतःचा अधःपात करू नये, कारण ( मनुष्य ) स्वतःच स्वतःचा बंधू ( हितकर्ता ) व स्वतःच स्वतःचा शत्रू ( अहित करणारा ) असतो - ५. ज्याने स्वतःच स्वतःला ( स्वतःच्या इंद्रियांना व मनाला ) जिंकले तो स्वतःच स्वतःचा बंधू ( हितकर्ता ) होय; परंतु ज्याने स्वतःला अशाप्रकारे जिंकले नाही, तो स्वतःशीच शत्रूप्रमाणे वैर करितो ( आपला अधःपात करून घेतो ) - ६. ”

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

श्रीकृष्णार्पणमस्तु ।

\*\*\*

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।

निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥५-१९॥

“ ज्यांचे मन साम्यावस्थेत स्थिर झाले त्यांनी या लोकीच जन्ममरणरूप संसारास जिंकले; कारण ब्रह्म परम विशुद्ध आणि सम असल्याने ते ( समचित्त व्यक्ती ) ब्रह्मस्वरूपात स्थित ( प्रविष्ट ) झालेले असतात. ”

\*\*\*

## उल्लेखित पुस्तकांची सूची

संस्कृत

आनंदगिरी :	‘गीताभाष्य’,	
‘उपनिषद्’ :	‘इश’,	‘कठ’,
	‘छांदोग्य’ :	‘तैत्तिरीय’ :
	‘बृहदारण्यक’,	
	‘मुण्डक’,	
	‘क्षेताश्वतर’,	
कालिदास :	‘रघुवंश’,	‘शाकुंतल’,
गणेशगीता		
धनपति : गीताभाष्य		
पातंजलयोगसूत्राणि	ब्रह्मसूत्राणि	
बादरायणाचार्य		
भागवत पुराण		
भर्तृहरि : नीतिशतक		
मधुसूदन सरस्वती : गीताभाष्य	गूढार्थदीपिका	
मध्वाचार्य : गीताभाष्य		
मनुस्मृती		
महाभारत :	अनुशासनपर्व :	आदिपर्व
	आश्वमेधिकपर्व :	उद्योगपर्व
	द्रोणपर्व :	भीष्मपर्व
	वनपर्व :	विराटपर्व
	शल्यपर्व	
	शांतिपर्व	
	सभापर्व	
रामानुजाचार्य : गीताभाष्य		
वल्लभाचार्य : गीताभाष्य		
वेंकटनाथ : गीताभाष्य		
वेद : प्रकरण ६ :	अथर्ववेद	ऋग्वेद
	सामवेद	यजुर्वेद
शंकराचार्य : गीताभाष्य		
शास्त्र		



सांख्यदर्शन

मराठी

ओक : गीर्वाण : लघुकोश

कवीश्वर : महाभारताची गूढ रहस्ये

टिळक : श्रीमद्भगवतगीता रहस्य

देसाई : गीतातत्त्वविवेक

भानु : संपादित श्रीमद्भगवतगीता

मुक्तेश्वर :

वामन पंडित :

विनोबा भावे : गीता प्रवचने: स्थितप्रज्ञदर्शन

सातवळेकर : पुरुषार्थ बोधिनी भगवद्गीता

सुलभ विश्वकोश : संपादक दाते, कर्वे

ज्ञानेश्वर : ज्ञानेश्वरी

हिंदी

आपटे : संस्कृत हिंदी कोश

गांधी : अनासक्तियोग ( शिवाय पाहा Desai Mahadeo )

गोयंदका : श्रीमद्भगवद्गीता, तत्त्वविवेचनी हिंदी टीका सहित

भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद : भगवद्गीता यथारूप

हिंदी शब्दसागर

ENGLISH

Ambedkar : Thoughts on Pakistan

Aurobindo : Essays on the Gita

Chidbhanand Swami : The Bhagavadgita

Desai Mahadeo : The Gita according to Gandhi

Michael and Taylor : The Far Fast in th modern world

Morier Williams : Sanskrit - English Dictionary

Radhakrishnan : The Bhagavadgita

Philosophy : Hindu view of life

Ranade : The Bhagavadgita as a Philosophy of God

Realisation

Russel Bertrand : History of western Philosophy

Sidgwick Henry : The Methods of Ethics

Vaidya : Sanskrit - English Dictionary

२१० \* गीता तत्त्व दर्शन

या लेखकाची अन्य साहित्य सेवा

The Metaphysics of Berkeley

" An achivement of unusual merit... He has a sound faculty of philosophical discrimination... his nicely balanced criticism and appreciation of Berkeley... outstanding philosophical merits of Mr. Kaveeshwar's work " - London Times. " ...admirable exposition... I respect the achievement." - ' Philosophy ' journal, London. " Scholarly study of Berkeley's metaphysics " - British philosopher C. E. M. Joad.

Law of karma

Published by the Pune University. Spanish translation published in Barcelona, Spain.

नीति आणि कलोपासना

( संशोधित द्वितीय आवृत्ती )

" दोन्ही बाजूंचा परामर्ष घेऊन स्पष्ट व समतोल निर्णय " - ' केसरी ' पुणे. " फारच उत्तम " - पंडित सातवळेकर. " अत्यंत प्रशंसनीय... मार्मिक उद्‌घोष... फार सुंदर " - ' ध्रुव ' मासिक पुणे. " समतोलपणा... शास्त्रशुद्ध पद्धती... साहित्यातील एक महत्त्वाचा ग्रंथ " - ' पुरुषार्थ ' " उत्कृष्ट मार्मिक विवेचन... निर्विवाद सिद्ध... भूमिका आग्रहग्रहित व प्रतिपादन विद्वत्तापूर्ण " - ' महाराष्ट्र ' नागपूर. " कलेचा नीतीशी अत्यंत जवळचा संबंध आहे असे प्रतिपादन करणारे हे मराठी साहित्यातले पहिलेच पुस्तक... निःपक्षपाती... युक्तिवाद व तर्कपद्धती विचारवंतांना पटणारी, भाषा शुद्ध व विषयास अनुरूप... " - ' महाराष्ट्र शारदा ' हे पुस्तक मुंबई, पुणे, बडोदा, कर्नाटक, नागपूर आदि विद्यापीठांनी उच्च अध्ययनार्थ नियुक्त केले होते. या पुस्तकाची चर्चा करणारे पुस्तक प्रकाशित झाले आहे.

गीतातत्त्वमीमांसा ( हिंदी )

Ethics of the Gita

With foreword by. Dr. s. Radhakrishnan

पावित्र्यविडंबनाचा वाद

" ज्या श्रेष्ठ दर्जाच्या असतात व ज्यांच्या मूलगामी अन्वेषणाने विचारास नीट वळण लागू शकते अशा कृतीपैकी प्रा. कवीश्वर यांचे प्रस्तुत पुस्तक आहे " - ' महाराष्ट्र नागपूर ' " भूमिका शास्त्रशुद्ध व

गीता तत्त्व दर्शन \* २११



तत्त्वविवेचकाची... विडंबनाची त्यांनी केलेली व्याख्या सर्वसंमत होण्यासारखी आहे... विवेचन अत्यंत मार्मिक... मोठे अभ्यासपूर्ण... अत्यंत संयमपूर्वक व शक्य तो मूलगामी पद्धती...

- 'मनोहर' मासिक

ज्ञानेश्वरी विरूद्ध गीता

मूळ गीता व ज्ञानेश्वरी यांची सादर पण चिकित्सक तुलना. संशोधित द्वितीय आवृत्ती.

महाभारताची गूढ रहस्ये

( संशोधित वर्धित द्वितीय आवृत्ती )

महाभारत के गूढ रहस्य ( हिंदी )

( संशोधित वर्धित द्वितीय संस्करण )

CHRONOLOGICAL SECRETS OF THE MAHABHARATA WAR

" Most revealing and important for future research "

- Dr. Stella Kramrisch, Professor New York University

" नया प्रकाश डाला है वह सर्वथा उपादेय है। "

- डॉ. सम्पूर्णानंद, भूतपूर्व मुख्यमंत्री, उत्तर प्रदेश

" This one man probe... The discovery which is his own... Events which drove many of our learned scholars into a blind lane and which baffled all attempts so far have been explained by him and linked up into a congenial story. "

- Nagpur Times.

" The Secrets of Mahabharata, a literary Discovery "

- Prof. Awadhoot Shastri, article in Bharata Jyoti, Bombay

" आपके वैदुष्यपूर्ण व्याख्यानों से ( दिल्ली का ) श्री लालबहादूर शास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत विद्यापीठ गौरवान्वित हुआ है। महाभारत युद्ध सम्बन्धी गवेषणानिरत विद्वानों को पुनः विचार करने की प्रेरणा दी है। "

- महामहोपाध्याय पं. परमेश्वरानंद शास्त्री, विद्याभास्कर, दिल्ली वस्तुतः आप जानते हैं महाभारत को

- आचार्य मधुसूदन शास्त्री, प्रधानमंत्री, अखिल भारत पंडित महापरिषद, वाराणसी.

२१२ \* गीता तत्त्व दर्शन

## आमचे वैचारिक वाङ्मय

### ■ क्वातंत्र्यवीण काव्यकवः :

सहा सोनेरी पाने	४०० रु.
१८५७ चे स्वातंत्र्यसमर	३५० रु.
हिंदूपदपादशाही	२०० रु.
मोपल्यांचे बंड अर्थात् मला काय त्याचे ?	१०० रु.
अग्निनृत्य	१५० रु.
हिंदुत्व	१०० रु.
काळे पाणी	२५० रु.
जोसेफ मॅझिनी	२५० रु.
अखंड सावधान असावे	१५० रु.

### ■ पु. ना. ओक

जागतिक इतिहासातील खिंडारे	३०० रु.
भारतीय इतिहाससंशोधनातील घोडचुका	३०० रु.
जागतिक इतिहाससंशोधनातील माझे अनुभव	१०० रु.

### ■ बांजय बाळत :

गरूडनजर	३५० रु.
---------	---------

### ■ नोविद कुलकर्णी :

फाळणीचे दिवस	३०० रु.
--------------	---------



## आमचे वैचारिक वाङ्मय

- विजय जाधव  
१०१ प्रश्नोत्तरी अर्थात्  
डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर यांचे चरित्र  
सायमन-कमिशन ( नाट्यरुपांतरित ) २० रु.  
२० रु.
- बिपीनचंद्र अ. ठापरे :  
विचारधारा: ( मा. बाळासाहेब ठाकरे  
यांची १५१ एकवचने ) २५ रु.
- कृ. भा. पवांजपे :  
घुसमटलेली पृथ्वी  
रामायण : कालचे, आजचे आणि उद्याचेसुद्धा १५० रु.  
३०० रु.
- प्रा. व. वा. कवीश्वर :  
महाभारताची गूढ रहस्ये  
इन्दुपासून हिन्दू २५० रु.  
१०० रु.
- डॉ. व. न. पाळंदे  
पुनर्जन्म - एक शोध ४०० रु.

## आमचे वैचारिक वाङ्मय

- डा. द. जोगळेकर :  
हिंदूहृदयसम्राट स्वा. सावरकर  
सेक्युलॅरीझम  
हिंदुत्व ३५० रु.  
१०० रु.  
२०० रु.
- प्रभाकर पानट  
अष्टावधानी  
( अहिल्यादेवी होळकर यांच्या जीवनावरील ग्रंथ ) ४०० रु.
- अनुबाधा वसंत वसंत  
युद्ध आमुचे सुरू ५०० रु.
- कॅ. आनंद जयबास बोडव  
सावरकरांची तिसरी जन्मठेप ७५ रु.
- श्रीबास कृ. बोवकर  
परिक्रमा : प्राचीन वाङ्मयाची  
खिसेकापूंचा देश १०० रु.  
१०० रु.



## आमचे वैचारिक वाङ्मय

- कवामी आनंदप्रणी  
पुनर्जन्माचे गूढ ❖❖ २०० रु.
- पंढरीनाथ कावंत  
खलनायक : दुसऱ्या महायुद्धाचा ❖❖ ४०० रु.
- आचार्य अत्रे  
जय हिंद ! जय महाराष्ट्र ! ❖❖ १२५ रु.
- बाळासाहेब ठाकरे :  
कवचकुंडले ❖❖ २५० रु.
- डॉ. द. वि. जोग  
चित्पावन कोकणस्थ ब्राह्मणांची कुळकथा ❖❖ ७५ रु.



**मनोरमा**  
प्रकाशन

१०२/सी, माधववाडी, पहिला मजला,  
दादर मध्य रेल्वे स्टेशनसमोर,  
दादर पूर्व, मुंबई - ४०० ०१४  
दूरध्वनी : २४१४८२९९